श्री

मानस रत्नावली

के तीन रत्न

१. याचक महर्षि विश्वामित्र
२. पाषाणी अहिल्या
३. मानस का मल्लाह

व्याख्याकार

भारती-भूषण, कविता-कलाधर, व्याख्यान-वारिधि,
साहित्य-रत्न

"मोहन-मोहिनी" के रचयिता

गोस्वामी श्री 'बिन्दु' जी महाराज
प्रेमधाम, वृन्दावन

प्राप्ति स्थान

गोस्वामी श्री बालक राम शरण "बिन्दुपाद"
प्रेमधाम आश्रम
वृन्दावन - 281121 (उ.प्र.), मो. 9897013374

खण्डेलवाल ग्रंथालय प्राइवेट लिमिटेड
राधा मोहन अलि कुंज, अठखंभा बाजार
वृन्दावन - 281121 (उ.प्र.), मो. 9997977551

श्री सुशील कुमार ताम्बी
प्रज्ञा साधना आध्यात्मिक पुस्तक केन्द्र
ए-3, आर्यनगर, मुरलीपुरा
जयपुर - 302039 (राज.), मो. 9829547773

सीताराम पुस्तकालय
विश्राम बाजार, निकट द्वारिकाधीश मंदिर
मथुरा - 281001 (उ.प.), मो. 9837654007

मूल्य : 260/-

विषय क्रम

- **याचक महर्षि विश्वामित्र** **१**
  - सर्वानन्दैक दायकम् ३८
  - करि मज्जन सरयू जल ४१
  - गए भूप दरबार ४३
  - राम देखि मुनि देह बिसारी ५४
  - इन कहँ अति कल्यान ७३
  - निसिचर बध मैं होब सनाथा ९१
  - विश्वामित्र प्रसंग का सिद्धान्तत्रय परक विचार ९४
- **पाषाणी अहिल्या** **९७**
  - कृपा करहु रघुबीर १०३
  - परसत पद पावन सोक नसावन ११३
  - मैं नारि अपावन १२०
  - परम अनुग्रह मैं माना १२३
  - अहिल्या प्रसंग का सिद्धान्तत्रय परक विचार १२९
- **मानस का मल्लाह** **१३३**
  - माँगी नाव १३८
  - कहइ तुम्हार मरम मैं जाना १४९
  - चरण कमल रज कहुँ सबु कहई १५५
  - सब कहई १५७
  - छुवत सिला भई नारि सुहाई १६०
  - जो प्रभु पार अवसि गा चहहू। १६३
  - न नाथ उतराई चहौं १६४
  - दसरथ सपथ सब साची कहौं १६९

जब लगि न पाय पखारिहौं	१७१
सुनि केवट के बैन	१८०
कृपा सिन्धु बोले मुसुकाई	१८६
बेगि आनु जल पाय पखारू	१८८
सोइ कृपालु केवटहि निहोरा	१९२
पद नख निरखि देवसरि हरषी	१९४
केवट राम रजायसु पावा	१९६
अति आनन्द उमगि अनुरागा	१९९
बरषि सुमन सुर सकल सिहाहीं	२०१
पद पखारि जलु पान करि	२०३
उतरि ठाढ़ भये सुरसरि रेता	२०४
प्रभुहिं सकुच एहि नहिं कछु दीन्हा	२०५
मनि मुदरी मन मुदित उतारी	२१२
कहेउ कृपाल लेहि उतराई	२१६
मिटे दोष दुख दारिद दावा	२२६
बहुत काल मैं कीन्हि मजूरी	२२९
अब कछु नाथ न चाहिअ मोरे	२३४
फिरती बार मोहि जो देबा	२३७
भगति बिमल बरु देइ	२४१
केवट प्रसंग का सिद्धान्तत्रय परक विचार	२४६
दो पद	२४८

* * *

याचक महर्षि विश्वामित्र

भूमिका

चिरकाल से मानस प्रेमियों की माँग थी कि मानस पर जैसा आप प्रवचन करते हैं वैसी ही एक विस्तृत टीका निकालें तो वह मानस-पाठ्य-कोष में एक चिरस्थायी सम्पत्ति होगी। जिससे मानस के अध्ययन करने वाले लोगों को बहुत कुछ सहयोग प्राप्त हो सकेगा।

मानस की विस्तृत टीका निकालने में मुझे कतिपय कठिनाइयों का अनुमान हुआ। एक तो यह कि इतनी विशाल टीका निकालने के लिए ८०-९० हजार रुपये की लागत होनी चाहिए और प्रकाशित हो जाने के बाद उस पुस्तक के अनेकों भाग, कि जिस पूरी पुस्तक का मूल्य १५० या २०० होगा, पाठकों को पढ़ लेना कठिन ही नहीं अपितु असम्भव सा हो जायगा। साथ ही जनसाधारण इतना अधिक मूल्य देकर इतनी अधिक पुस्तकें अपने घर में रखने की व्यवस्था करे तो भी कुछ असुविधा सी ही होगी। इन्हीं सब कई कठिनाइयों के कारण यह विचार किया गया कि मानस के एक-एक प्रसंग भाष्य सहित निकाले जायें जिन्हें पाठक सरलता से ले भी सकें और पढ़ भी सकें। इस विचार के अनुसार आज से ३१ वर्ष पहले "श्रीरामगीता" नामक एक प्रसंग (आरण्यकाण्ड में श्री भगवान राम चन्द्र जी ने जो श्री लक्ष्मण जी को उपदेश दिया है वह) पुस्तकाकार में प्रकाशित किया गया जिसे पंजाब यूनिवर्सिटी ने हिन्दी पाठ्य-पुस्तक भी निर्धारित किया। यह पुस्तक लोगों को अधिकाधिक रुचिकर प्रतीत हुई और कई बार प्रकाशित की जा चुकी है।

आज से लगभग १२ वर्ष पूर्व एक दूसरा प्रसंग "रामराज्य" (उत्तरकाण्ड में रामराज्य की व्याख्या है जिसमें वह) प्रकाशित किया गया। उसके भी कई संस्करण अब तक प्रकाशित हो चुके हैं।

उपरोक्त दोनों पुस्तकें पढ़कर जनता की अभिरुचि तीव्र गति से बढ़ने लगी और उसकी पूर्ति के लिए "प्रेम-सन्देश" मासिक पत्र में "मानस- मन्दाकिनी" नाम से कुछ प्रसङ्गों की व्याख्या निकाली जाने लगी, परन्तु मानस-मन्दाकिनी उन्हीं महानुभावों के पास पहुँचाई जा सकी जो "प्रेम सन्देश" के ग्राहक हैं। अतः सर्वसाधारण जनता की इच्छापूर्ति के लिए वही मानस-मन्दाकिनी की व्याख्यायें "मानस रत्नावली" के नाम से पृथक-पृथक प्रसंग प्रकाशित करने का निश्चय किया गया।

इस पुस्तक में मानस के दो प्रसंग रत्न "महर्षि याचक" और "पाषाणी अहिल्या" मानस प्रेमियों के सन्तोषार्थ प्रस्तुत किए गए हैं और "मानस रत्नावली" का तृतीय रत्न "मानस का मल्लाह" भी पुस्तकाकार में उपस्थित है। आशा है कि इसी प्रकार उत्तरोत्तर क्रमशः मानस के अनेक रत्न पाठकों के सम्मुख प्रेमधाम प्रकाशन विभाग उपस्थित करता रहेगा।

माघ शु० पूर्णिमा
संवत् २०१६
प्रेमधाम आश्रम
वृन्दावन

विनीत -
"बिन्दु" गोस्वामी

* प्रथम रत्न *

याचक महर्षि विश्वामित्र

[मानस मन्दाकिनी व्याख्या]

यह सब चरित कहा मैं गाई।
आगिलि कथा सुनहु मन लाई॥

किसी भी देश को याचक दरिद्र भी बना सकते हैं, सर्वनाश के गर्त में भी पहुँचा सकते हैं, तथा देश को सम्पत्तिशाली भी बना सकते हैं, और उसकी यश पताका आकाश तक उन्नत भी कर सकते हैं।

याचक का जीवन सृष्टि-सृजन में बहुत बड़ा महत्व रखता है। सृष्टि में प्रत्येक प्राणी याचक है और वही दाता भी है। यह आदान-प्रदान अनादिकाल से चला आता है। और यह भी कहें तो अतिशयोक्ति न होगी कि इस आदान-प्रदान का ही नाम है संसार, सृष्टि, जीवन और जाग्रति। यदि यह आदान-प्रदान समाप्त हो जाय तो यह समस्त प्रपंच समाप्त हो जाने में, न देर हो सकती है न कोई सन्देह।

भारतीय सिद्धान्त यही कहता है कि उस निर्विकल्प ब्रह्म से प्रकृति याचना करती है, तभी वह सविकल्प होकर "सम्भवाम्यात्ममायया" प्रकृति को पुरुषार्थ दान देता है जिससे यह चराचर जगत उत्पन्न होता है।

इसलिये उस ब्रह्म का यह सुस्पष्ट कथन है कि -

ममैवांशो जीव लोके जीवभूतः सनातनः।

यह जीव मेरा अंश है, अर्थात् मैं इसका पिता हूँ यह मेरा पुत्र है।

प्रकृति को मैंने पुरुषार्थ दान किया है, उससे ही यह उत्पन्न हुआ है। इसीलिए इस सृष्टि में याचना और दान दोनों ही अनिवार्य प्रथाएँ चल पड़ीं। जीव प्रभु से कुछ माँगता रहता है, शिष्य गुरु से कुछ माँगता रहता है, पुत्र पिता से माँगता रहता है, पत्नी पति से माँगती रहती है, निर्धन धनिक से कुछ माँग लेता है। सूक्ष्म दृष्टि से देखिये तो बिना माँगे और दिये त्रिलोक में किसी का एक क्षण भी कार्य नहीं चलता। स्त्री के मस्तक पर केशों के बीच एक रेखा जो निकाली जाती है उसका नाम है माँग, अर्थात् वह कन्या है और अपने मस्तक को अर्पण करना तो चाहती है, परन्तु यह उसकी अभिलाषा है कि जो पतित्व का पूर्ण दान दे सके उसके लिये यह मस्तक तैयार है। इसीलिये पति विवाह के समय उस माँग की रेखा को सिन्दूर से भरता है। वह उसे यह विश्वास दिला देता है कि रजोगुण का वर्ण लाल है, वह रजोगुणी ऐश्वर्य की समस्त लालिमा तेरे मस्तक को मैं दान दे रहा हूँ। अर्थात् संसार के जितने व्यवहार हैं वह सब रजोगुण पूर्ण हैं (ऐश्वर्य पूर्ण हैं) वह सभी तेरे अवलम्ब से ही चलाए जायेंगे, अतः इस रजोगुण लालिमा से तेरे मस्तक को मैं भर रहा हूँ। इसी का नाम है सिन्दूर दान और जब वह संसार व्यवहारात्मक ऐश्वर्य दान करने वाला पति चला जाता है, तब उसकी वह माँग शून्य हो जाती है क्योंकि अब दान देने वाला ही नहीं रहा। अतः वह विरक्ता, सन्यासिनी, तपस्विनी हो जाती है क्योंकि दानी नहीं रहा।

ब्रह्म एक है, प्रकृति अष्टधा है और उपभेद से अधिक संख्या भी हो सकती है। यदि ब्रह्म न रहे तो प्रकृति को दान देने वाला नहीं रहेगा, इसलिए प्रकृति की याचना पूर्ति के लिए ही ब्रह्म की आवश्यकता है। यदि प्रकृति की याचना न रहे तो दानी ब्रह्म की भी कोई आवश्यकता नहीं। अतः प्रकृति ने याचना कर के ही उस निर्गुण ब्रह्म से सगुण स्वरूप धारण करने का दान लेकर, यह उत्तमोत्तम पुष्प वाटिका हमारे सामने उपस्थित कर दी है। यह बात दूसरी है कि माता पिता प्रयत्नशील होते हैं कि पुत्र उत्तमोत्तम उत्पन्न हो (माली प्रयत्नशील होता है कि सभी पुष्प सुगन्धित एवम् सुन्दर हों) फिर भी न जानें क्यों, पिता के कितने पुत्र (माली के कितने पुष्प) इतने गन्दे निकलते हैं कि जिनसे परिवार (और बाग) दूषित

तथा दुर्गन्धित हो जाता है। इसी प्रकार ब्रह्म और प्रकृति के न जाने कितने पुत्र रूपी पुष्प इस वाटिका में ऐसे उत्पन्न हो जाते हैं जिनके दुराचारों से संसार दुर्गन्धित होने लगता है। इसमें प्रकृति और ब्रह्म का दोष नहीं, दुनियाँ की हवा का दोष है। तभी तो एक भक्त ने भगवान् से कहा कि –

खड़ा हूँ देर से सुनते नहीं कुछ इल्तिज़ा साहब।
तुम्हें भी लग गई शायद ज़माने की हवा साहब॥

इस ज़माने की हवा का यह असर है कि बालक ऐसे भी हो जाते हैं। यदि अच्छे बालक चाहते हो तो वातावरण (ज़माने की हवा) ठीक कीजिये, शिकायतें दूर हो जायेंगी। माता के गर्भ में बालक रहता है तो उसकी रक्षा भगवान् स्वयम् करते हैं। अपने बालक की संगति भ्रष्ट न हो, इसलिये उसे गर्भ में ही दर्शन देकर परिस्थिति सुधारते हैं। और यही कारण है कि जब बालक जन्मता है, तो अ उ म इन तीन अक्षरों से ओ३म् शब्द का ही उच्चारण करता हुआ जन्मता है। परन्तु जन्मते ही ज़माने के लोग उसकी ऐसी मति भ्रष्ट कर देते हैं कि वह सब कुछ भूल कर राग–रंग में ही मस्त हो जाता है। प्रकृति की माँग व्यर्थ हो जाती है।

जिस प्रकार प्रकृति ब्रह्म से माँगती है और ब्रह्म रजोगुण से सृष्टि की माँग भर देता है, उसी प्रकार यह पृथ्वी भी वीर पुरुष से अपना आधिपत्य माँगती है। और जो वीर पुरुष इस पृथ्वी की माँग को भरते हैं, वह जितने भी अपने स्वार्थ–सुख साधन की सामग्रियाँ हैं, उनका बलिदान कर देते हैं। और उससे भी जब पृथ्वी की दुर्दशा दूर नहीं होती तो वह पुण्यव्रती महापुरुष अपने प्राणों का बलिदान करके अपने रक्त से इस पृथ्वी की माँग भर जाते हैं। जिसका प्रतिफल यह होता है कि उन महापुरुषोंकी संतान, हम लोग, आनन्द का उपभोग करते हैं। परन्तु हमें स्वप्न में भी यह ध्यान नहीं आता कि यह जो कुछ हम भोग रहे हैं इसे पृथ्वी ने किसी से माँगा था। उस दाता के रक्त से भरी हुई माँग का फल है कि जो हम भोग रहे हैं। यह भूल उस पिता के दान का अपमान नहीं है अपितु मां पृथ्वी की माँग का अपमान है। इसलिये –

देव न बरषहिं धरणि पर, बए न जामहिं धान।

उपरोक्त भूमिका का निष्कर्ष यह निकाला कि यह जो कुछ हम देख रहे हैं, सुन रहे हैं, कर रहे हैं, भोग रहे हैं – सभी याचना और दान तथा याचक–दानी के ही प्रभाव की प्रतिक्रिया है।

गोस्वामी श्री तुलसीदास जी महाराज ने श्रीरामचरित मानस में प्रायः सभी प्रकार के याचक और दानियों का प्रसंगतः वर्णन किया है। जिन याचकों से देव कार्य होता है, जिन याचकों से गृह कार्य होता है, जो याचक केवल स्वार्थ चाहते हैं, जो याचक केवल दानी की परीक्षा करना चाहते हैं, जो याचक त्रिलोक का कल्याण करना चाहते हैं, जो याचक आत्म–कल्याण करना चाहते हैं, जो याचक भूमि, देश, राष्ट्र के लिये याचना करते हैं, जो परमार्थिक मोक्ष आदि की याचना करते हैं – इन सभी प्रकार के याचक और दाताओं का वर्णन गोस्वामी जी ने मानस में किया है। इन सभी याचकों में यदि गम्भीर दृष्टि से देखा जाय तो मानस भर में एक याचक की याचकता सर्वोच्च कही जा सकती है। जो कि सर्व प्रकार के सुखों का उपभोग कर चुका और वर्तमान समय में भी उसे कोई भी उपयोग की सामग्री नहीं चाहिए। केवल दूसरों को दुखी देखकर उसे चिन्ता होती है, और वह सोचता है कि यदि इन उपद्रवी राक्षसों का मैं स्वयम् ध्वंस कर दूँ तो यह राष्ट्र में शान्ति से तपस्या और उपासना करने वालों का कर्तव्य नहीं है। यह कर्तव्य तो राष्ट्र के संरक्षणार्थ जिन्होंने उत्तरदायित्व सम्हाला हो, उन्हीं का हो सकता है। मैं तो "विश्वामित्र" हूँ, समस्त विश्व का मित्र हूँ, फिर भला मैं किसी का विनाश कैसे करूँ? दूसरी बात यह है कि इन उपद्रवी राक्षसों का यदि मैं स्वयम् नाश करूंगा, तो यह उपद्रवों के कारण मारे तो जा सकेंगे परन्तु मेरा नाम भ्रष्ट हो जायेगा। मैं विश्व का मित्र नहीं रह सकूँगा, परन्तु यदि यह किसी पुण्यशाली के हाथ से मारे जायेंगे तो इनकी सुगति होगी। और इन्हें उसे देने के नाते भी मैं इनका मित्र ही रहूँगा, शत्रु नहीं बनूँगा। इन सभी पक्षों पर विचार करके, जो महर्षि होकर भी त्यागी एवम् तपस्वी होकर भी लोक हित के लिए ही याचक बन रहा है – वह याचक वास्तव में

जिस देश में हो उस देश को गर्व होना चाहिए। क्योंकि वह याचक नहीं देश का गौरव है।

श्री गोस्वामी जी उन्हीं महर्षि याचक की कथा प्रारम्भ कर रहे हैं।

यह सब चरित कहा मैं गाई।
आगिली कथा सुनहु मन लाई॥

बहुत से महानुभाव यह कहते हैं कि "गाई" शब्द का अर्थ गाने का द्योतक है अर्थात् गोस्वामी जी का यह तात्पर्य है कि राम-जन्म से लेकर और अब तक, जो प्रसंग मैंने कहा है वह गाकर कहा है क्योंकि जन्म, बाल चरित्र, मंगल बधाई आदि गाने के प्रधान विषय हैं। परन्तु अब जो वर्णन कर रहा हूँ वह चरित्र भाग केवल गाने- बजाने (मनोरंजन) से सम्बन्धित नहीं है। वह तो मन लगाकर सुनने और समझने का विषय है इसलिये -

आगिली चरित सुनहु मन लाई।

परन्तु गाई शब्द का अर्थ यदि केवल गाने के ही आशय में किया जायेगा, तो ग्रन्थ के कई स्थानों पर बड़ी असुविधा होगी। जैसे -

शारद शेष महेश विधि, आगम निगम पुरान।
नेति नेति कहि जासु गुन, करहिं निरंतर गान॥

यहाँ विधि, शास्त्र और वेद - ये सभी भगवान के गुण को राग-रागिनी स्वर-ताल से गाते हैं, ऐसा अर्थ सुसंगत नहीं होगा क्योंकि शारद और महेश को तो संगीत से सम्बन्धित कह सकते हैं परन्तु ब्रह्मा को तो कभी किसी ने गाते हुये नहीं लिखा। और न्याय, वैशेषिक मीमांसा आदि छः शास्त्रों के महर्षियों ने राग-रागिनियों में नहीं गाया। और भी दो चार स्थल देखिए -

प्रथम मुनिन हरि कीरति गाई।
तेहि मग चलत सुगम मोहिं भाई॥

शंभु कीन्ह यह चरित सुहावा।
बहुरि कृपा करि उमहि सुनावा॥
सो शिव काग भुसुण्डिहिं दीन्हा।
राम भगति अधिकारी चीन्हा॥
तेहि सन जागबलिक पुनि पावा।
तिन्ह पुनि भरद्वाज प्रति गावा॥
राम नाम कर अमित प्रभावा।
सन्त पुराण उपनिषद् गावा॥

यहि मँहि रुचिर सप्त सोपाना।
रघुपति भगति केर पन्थाना॥
अति हरि कृपा जाहि पर होई।
पाँब देइ यहि मारग सोई॥
मन कामना सिद्धि नर पावा।
जो यह कथा कपट तजि गावा॥

उपरोक्त सभी स्थलों से गाई और गावा शब्द का यही सुस्पष्ट अर्थ निकलता है कि वर्णन करना, विस्तार सहित व्याख्या से कहना है और यदि यह मान भी लें कि बाल-चरित्र आदि गाने का प्रसंग है, और आगे की कथा मन लगाने की है, तो काग भुसुण्डि जी के प्रकरण में यह बात पलट जाती है –

प्रथमहिं अति अनुराग भवानी।
रामचरित सर कहेसि बखानी॥
पुनि नारद कर मोह अपारा।
कहेसि बहुरि रावण अवतारा॥
प्रभु अवतार कथा पुनि गाई।
तब शिशु चरित कहेसि मन लाई॥

यहाँ जो कथायें मन लगाने की हैं वह तो गाकर कही गईं और जो बाल चरित्र आदि गाने की हैं, वह मन लगाकर कही गईं। तब तो बाल

चरित्र केवल गाने का विषय नहीं रह गया और सबसे बड़ी असुविधा तो "गाई" शब्द का "गाते हुये" अर्थ करने में वहाँ होती है कि जब श्रीरामचन्द्र जी का हनुमन्त लाल जी से प्रथम साक्षात्कार होता है, तब राघवेन्द्र कहते हैं कि –

कौशलेश दशरथ के जाये।
हम पितु बचन मानि बन आये॥
इहाँ हरी निसिचर बैदेही।
खोजत विप्र फिरहिं हम तेंही॥
आपन चरित कहा हम गाई।
कहहु विप्र निज कथा बुझाई॥

सोचिए तो सही यदि श्रीराम ने अपना यह सब प्रसंग राग-रागिनियों में गाकर कहा, तो कैसा अस्वाभाविक हो सकता है। इसलिये यहाँ गाई शब्द का अर्थ केवल कथा, व्याख्या, विस्तार वर्णन से है, न कि संगीत की कोई प्रधानता है। यद्यपि कथा कहने वालों के लिये तो पाँच लक्षण वर्णन किये गये हैं। उन पाँचों में एक प्रधान लक्षण सुस्वर होने का भी है। यथा –

साहित्य शास्त्र निपुणः संगीतज्ञश्च सुस्वरः।
सरगादि पंच ज्ञाता च सर्वैपौराणिक स्मृतः॥

(शुक्र नीति २-१७८)

इसके अनुसार पुराण वाचक को तो संगीतज्ञ भी होना चाहिए और सुस्वर भी होना चाहिए, परन्तु कथा भाग संपूर्ण गाने में ही लिखा जाय यह कोई आवश्यक नहीं। यद्यपि भारत वर्ष में ऐसे कुछ विचित्र आयोजन अवश्य हैं कि जिनमें चलना, फिरना, बात, व्यवहार, खाना, सोना और यहाँ तक कि रोना भी – सभी काम गाकर और नाचकर ही होते हैं। जिन लोगों ने नौटंकी देखी होगी उन्हें यह भली भाँति अनुभव होगा कि उसमें राजा, रानी, नौकर, चाकर सभी जो कुछ बोलते हैं, वह गाकर और जो कुछ उनकी गति होती है वह नाचकर। उसमें विलाप भी होता है तो

गाकर और नाचकर, परन्तु वह तो एक साधारण लौकिक मनोरंजन की सामग्री कही जा सकती है। महाकाव्य, पुराण, इतिहास में यह आयोजन न तो समझा ही जा सकता है और न उसकी कोई सफल चेष्टा ही हो सकती है। श्रीमद्भगवत् गीता में भी गीत शब्द का अर्थ गान नहीं, वर्णन करना है। यथा –

क्षेत्रज्ञं चापि मांविद्धि सर्व क्षेत्रेषुभारत।
क्षेत्र क्षेत्रज्ञ योर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम॥
तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत्।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु॥
ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्।
ब्रह्म सूत्र पदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः॥

क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का ज्ञान ही सर्वश्रेष्ठ ज्ञान है। जिसे ऋषियों ने, वेदों ने तथा ब्रह्म सूत्र के पदों ने भी (बहुधा गीतम्) बहुत प्रकार से गान किया है, कहा है, वर्णन किया है। एतावत् यह निश्चित है कि गोस्वामी जी के ग्रन्थ में "गाई" शब्द का अर्थ केवल गाने में लेना युक्तिसंगत नहीं होगा। उपरोक्त चौपाई के साधारण अर्थ पर विचार करने से यह प्रतीत होता है कि –

एक बार भूपति मन माहीं।
भै गलानि मोरे सुत नाहीं॥

से लेकर ऊपर के दोहे –

ब्यापक अकल अनीह अज, निर्गुण नाम न रूप।
भगति हेतु नाना विधि, करत चरित्र अनूप॥

सोलह दोहों में जो प्रसंग वर्णन किया है वह बहुत विस्तार से है। जिसकी अपेक्षा विश्वामित्र आगमन से लेकर अहिल्योद्धार तक केवल छः दोहों में लिखा गया है। इसलिए गोस्वामी जी का यह आशय हो सकता है कि –

यह सब चरित कहा हम गाई।

जन्म से लेकर यहाँ तक का चरित्र मैंने गाकर (बहुत विस्तार से) कहा है। अब आगे की कथा का आशय बहुत बड़ा है परन्तु वर्णन थोड़ा है। और थोड़े वर्णन में बहुत कुछ समझ लेना तभी हो सकता है कि जब उसमें भली भाँति मन लगाया जाय। अतः अभी तक तो मंगल बधाइयों में मन मस्त रहा। यहाँ तक कि इस चरित्र के प्रधान वक्ता श्री शंकर जी महाराज का भी मन बाल चरित्र के आनन्द में मग्न था।

परमानन्द प्रेम सुख फूले।
वीथिन फिरहिं मगन मन भूले॥

तो फिर दूसरों के मन की बात क्या कही जाय? परन्तु अब मन के मगन होने की बात नहीं, मन को लगाकर समझने की बात है। इसलिए "सुनहु मन लाई" कहा गया है।

गोस्वामी जी ने श्री रामचरित मानस में तीन प्रकार के याचकों का वर्णन किया है – स्वार्थी याचक, परमार्थी याचक, कपटी कुटिल और धूर्त याचक। स्वार्थी याचक वह है जो याचना से केवल अपना ही स्वार्थ सिद्ध करते हैं। उनके भी तीन भेद हैं – सतोगुणी, तमोगुणी, रजोगुणी।

परमार्थी याचक वह हैं कि जिनकी याचना का लक्ष्य परोपकार एवं विश्व कल्याण रहता है। इसके भी तीन भेद हैं – याचना अपने लिये हो, परन्तु अपना कल्याण न हो विश्व का कल्याण हो। याचना के निमित्त हम स्वयं हों या और कुछ हो, जिससे हमारा भी हित हो और विश्व का भी हित हो। याचना के निमित्त हम हों और हित केवल दानी का हो।

धूर्त याचकों के भी तीन भेद हैं – कपटी याचक वह हैं जो चाहते कुछ हैं और मांगते कुछ हैं। कुटिल याचक वह हैं जो दूसरे के सर्वनाश करने के लिये ही याचना करते हैं। धूर्त याचक वह हैं, याचना की न जिन्हें स्वयं आवश्यकता होती है और न दानी को दान का फल मिलता है, अपितु अपनी कुत्सित वासनाओं की पूर्ति के लिये ही याचना उनका एक प्रधान व्यापार बना हुआ है। जब किसी और साधन शस्त्र से किसी

को वह परास्त नहीं कर सकते, तो याचना साधन से ही वह दानी को आहत कर देते हैं और फिर अपनी स्वार्थ वृत्तियों की पूर्ति पर प्रसन्न होते रहते हैं।

महर्षि विश्वामित्र का चरित्र-चित्रण परमार्थी याचकों की प्रथम और द्वितीय में आता है क्योंकि विश्वामित्र जी याचक स्वयं हैं और अपने ही लिये याचना करते हैं, परन्तु इस याचना से विश्वामित्र का कोई लाभ नहीं होता। विश्वामित्र जी सन्त हैं, इसी सिद्धाश्रम में तो उनका जन्म हुआ नहीं हैं, पृथ्वी के जाने किस-किस क्षेत्र में रहे और जाने किस-किस घाट का जल आपने पिया। फिर आपको इस सिद्धाश्रम को ही स्वतंत्र करने की क्या धुन थी?

कहीं भी जाकर इससे भी उत्तमोत्तम आश्रम का निर्माण कर सकते थे। राक्षसगण सभी जगह तो विघ्न करते नहीं, आखिर पुत्रेष्टि यज्ञ आदि अयोध्या में हुआ ही था, वहाँ राक्षस क्यों न आये और सिद्धाश्रम जब कि मारीच-सुबाहु की स्थिति का प्रधान स्थल था, तो इनको यही क्या हठ था कि हम यहीं यज्ञ करेंगे? इसीलिये श्री दशरथ जी ने कहा भी कि "माँगहु भूमि", वहाँ राक्षस आपको कष्ट देते हैं तो आप जमीन लेकर वहाँ आश्रम बनवा लीजिए लेकिन महर्षि का कहना तो यह है कि -

असुर समूह सतावहि मोहीं।
मैं जाचन आयउँ नृप तोही॥
अनुज समेत देहु रघुनाथा।
निसिचर बध मैं होब सनाथा॥

अर्थात् राक्षस मुझे सताते हैं और मैं उनका नाश चाहता हूँ। इससे सुस्पष्ट है याचना का निमित्त विश्वामित्र जी स्वयं बन रहे हैं परन्तु उस याचना से विश्वामित्र का कोई लाभ नहीं है। अपितु कोशल खण्ड और मिथिला प्रदेश के बीच में यह जो उपद्रवी दल बस रहा था, इसके समाप्त हो जाने से यह राष्ट्र भूखण्ड सुख और शान्ति से अपने दिन बिता सकेगा। साथ ही इस याचना के निमित्त से राम लक्ष्मण को लाकर, श्री सीता और राम का सम्पर्क करा दिया जाय, जिससे कि राम का चरित्र भी विख्यात

हो और चक्रवर्ती दशरथ को भी महाआनन्द हो। तभी तो आपने कहा –

धर्म सुयश नृप तुम कौं, इन्ह कहँ अति कल्याण।

चक्रवर्ती को धर्म और सुयश मिलेगा, श्री राम का कल्याण होगा, निशाचरों के वध से कोशल खण्ड और मिथिला की सीमा स्वतंत्र होगी। याचक को क्या मिलेगा? परन्तु भूखण्ड का स्वतंत्र होना ही याचक अपना परम लाभ मान रहा है।

निसिचर बध मैं होब सनाथा।

इसलिए यह याचक परमार्थी याचक के (प्रथम और द्वितीय लक्षण सम्पन्न याचक के) पूर्ण प्रतीक हैं। याचक कैसा होना चाहिए और कब किस कार्य के लिए याचना करनी चाहिए, यह समझ लेने के बाद याचक याचक नहीं रह जाता, विश्व वन्दनीय महात्मा हो जाता है। वैसे तो मैं पहले ही कह चुका हूँ "याचक, याचना और दान" सृष्टि के मुख्य विषय हैं। फिर भी यदि हम याचकता का लोक व्यवहार में श्री गणेश काल मानें तो परमार्थी याचक का प्रारम्भ भगवान श्री विष्णु से होता है। जिन्होंने याचना के लिये एक व्यक्तिगत अवतार ही धारण कर लिया, जो कि "वामन" अवतार से आज तक प्रसिद्ध है। बहुत से लोगों का कहना है कि भगवान विष्णु ने ब्राह्मण वंश में वामन अवतार लेकर ब्राह्मण जाति मात्र को याचक बना डाला, परन्तु गम्भीर दृष्टि से लोग इस पर विचार नहीं करते कि भगवान ने याचकता के लिए ब्राह्मण जाति में ही क्यों अवतार लिया? इसका एक विशेष कारण है और वह यह है कि क्षत्रियों में राज्य सम्वर्धन की कामना होती है। वैश्य में धन सम्वर्धन की कामना होती है। इसलिये यदि ये दो जातियाँ याचक बन जायेंगी, तो अवश्य उस याचना में स्वार्थ का प्राधान्य होगा। और शूद्र का कर्तव्य है परिश्रम करना, यदि ये लोग याचक बन जायेंगे तो परिश्रम का अभाव होकर राष्ट्र में आलस्य और प्रमाद फैलेगा। परन्तु ब्राह्मण उस समय (जिस काल का हम वर्णन कर रहे हैं अर्थात् वामन अवतार के समय) केवल वल्कल वस्त्र पहन कर वन-प्रदेश के एकान्त भाग में रहकर तपस्या, विद्या, ब्रह्म की आराधना

में अकिंचन भाव से संलग्न रहते थे। अतः भगवान ने सोचा कि ब्राह्मण जाति यदि याचना करेगी तो परोपकार के लिए, राष्ट्र के लिए, सन्तप्त और दुखी जन समाज के लिये ही करेगी। क्योंकि इस जाति को स्वयं तो कुछ आवश्यकता है ही नहीं, इसलिए इसकी याचना कभी स्वार्थ साधन वश नहीं हो सकती। तो फिर इसी जाति में अवतार लेकर निस्वार्थ याचना का महत्व बतलाना, समस्त ब्राह्मण जाति के लिए उत्तमोत्तम शिक्षा का कारण होगा। इसलिए भगवान ने ब्राह्मण जाति में वामन अवतार धारण किया।

राजा बलि से तीन पैर पृथ्वी माँग लेने के बाद भी, देव समाज को कृतार्थ करके राजा बलि को भी अपने दर्शनों का अलभ्य लाभ देकर भी, क्या कहीं अपने लिए दो ग़ज जमीन भी इसलिए रख ली थी कि हमारा मन्दिर या भवन बनाया जाय? तात्पर्य यह है कि जिस याचना में विश्व का कल्याण हो और दानी का भी कल्याण हो, परन्तु याचक की कोई स्वार्थ पूर्ति न हो, वही परमार्थ याचना है।

महाराज मनु क्षत्रिय थे, उन्होंने परात्पर ब्रह्म श्रीराम से याचना की और यह याचना की कि तुम मेरे पुत्र हो। सोचिए तो सही, मानव मात्र के लिए धर्म शास्त्र लिखने वाला और साक्षात् भगवान से याचना करने वाला भी, याचना करता है तो उसमें स्वार्थ की मात्रा झलक रही है। भगवान, मनु के पुत्र होंगे तो उनके पुत्रत्व से राष्ट्र को कुछ लाभ पहुंचेगा? अथवा भगवान को कोई लाभ होगा? इसका तो कोई विशेष महत्व इस याचना में नहीं है। अपितु श्री सतरूपा जी कहती हैं –

सोई सुख सोई गति सोई भगति, सोई निज चरण सनेहु।
सोई विवेक सोई रहनि प्रभु, हमहिं कृपा करि देहु॥

यह भी स्वार्थ भावना है। परन्तु स्वकल्याणार्थ है इसलिए उत्तम कही जा सकती है। किन्तु श्री मनु जी तो कहते हैं कि –

सुत बिषइक, तव पद रति होऊ।
मोहि बड़ मूढ़, कहै किन कोऊ॥

इससे निश्चित हो गया कि मनु जी भगवान को नहीं चाहते, पृथ्वी का भार उतारने वाले को नहीं चाहते, विश्व का कल्याण करने वाले भगवान को नहीं बुला रहे हैं, केवल अपना बेटा चाहते हैं। और बेटा भी कैसा कि जो इनको पुत्रानन्द दे सके, इनके धर्म ग्रन्थ की विजय वैजयन्ती तीनों लोक में फहरा सके, और इनके सुखों के लिए अपने सुखों का बलिदान कर सके। कहिए? ब्राह्मण की याचना में और क्षत्रिय की याचना में कितना भेद है?

तभी तो श्री विश्वामित्र जी ने श्री दशरथ जी को इशारे में समझा भी दिया है कि –

मैं जाचन आयउँ नृप तोही।

यहाँ "मैं" शब्द इस बात का द्योतक है कि राजा तुम्हारे पास स्वार्थ याचना करने वाला कोई व्यक्ति नहीं आया है, "मैं याचना करने आया हूँ" मैंने कभी किसी से अपने स्वार्थ के लिये याचना नहीं की है। मेरा कोई अपना स्वार्थ न होने के कारण मेरी याचना में अज्ञान भी नहीं है। और मोह तो है ही नहीं। परन्तु तुमने जो कुछ भगवान से याचना की थी "वह माँगा हुआ दान मैं दूसरे को कैसे दे दूँ?" वह अज्ञान, और "मुझे मिली हुई वस्तु मुझसे छीनी जा रही है" यह मोह, दोनों ही तुम्हें व्याकुल कर रहे हैं। अतः "तजहु मोह अज्ञान" अर्थात् मेरी ही तरह (परमार्थी याचक की तरह) तुम्हें भी परमार्थी उदार दानी बनना चाहिए। दान देकर दान की प्रत्याशा न करना ही परमार्थी दानी का स्वरूप है –

विश्वामित्र महा मुनि ज्ञानी।
बसहिं विपिन शुभ आश्रम जानी॥

विश्वामित्र जो कि महामुनि हैं, ज्ञानी हैं, वह वनस्थल के एक मांगलिक आश्रम में (उसे अति पवित्र समझ कर) निवास करते थे।

प्रथम शब्द यहाँ विश्वामित्र है, इस शब्द का तात्पर्य है विश्व का मित्र (कल्याण करने वाला, विश्व का उपकारी)।

मित्रेचर्षो–विश्वामित्रः ऋषौकिम् । विश्वामित्रो–माणवकः ।

(सिद्धान्तकौमुदी समासाश्रय प्रकरण)

यह हैं विश्व के मित्र विश्वामित्र। यह विश्व कल्याण की बात विचार किया करते हैं, इसलिए महामुनि हैं अर्थात् निरन्तर लोकहित की भावना का मनन करते रहते हैं। और जो निरन्तर राग–द्वेष से रहित होकर लोक कल्याण का चिन्तन करता रहता है वही महात्मा परम ज्ञानी है। वही "वसुधैव कुटुम्बकम्" का अभ्यासी है। उसी के लिये भगवान श्री कृष्ण ने कहा है कि "वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः"। अतः महामुनि और ज्ञानी – ये दोनों ही विशेषण सार्थक दिये गये हैं और इसीलिए जो विश्व का सत्य और शुद्ध मित्र है और जिसे कोई भी किसी से कामना नहीं है, उसका नगर में क्या काम? यह तो वन प्रदेश के ही किसी रम्य आश्रम में निवास करना पसन्द करेगा, जहाँ न कोई विघ्न हो, न बाधा हो और न अशान्ति हो। अतएव –

बसहिं विपिन शुभ आश्रम जानी॥

"बसहिं बिपिन" से दूसरा आशय यह भी है कि झूठ, छल, कपट आदि के जितने भी उत्तमोत्तम प्रकार हो सकते हैं, वह नगर के नागरिकों में ही होते हैं। ग्रामीणों और वन वासियों में नहीं होते।

विश्वामित्र महामुनि ज्ञानी।
बसहिं विपिन शुभ आश्रम जानी॥

यहाँ विशेषण क्रम से दिये गये हैं। जो विश्व का मित्र है वही महामुनि है, (मुनि – मौन रहने वाला अथवा प्रत्येक विषय का भली भांति मनन करने वाला)। जो महामुनि है वही ज्ञानी है (जो बोलता कम है, विचार अधिक करता है वही ज्ञानी है)। जो ज्ञानी है वह जन–समूह और नागरिक हलचल में रहना पसन्द नहीं करता।

विविक्त देश सेवित्वमरतिः जन संसदि॥

(गीता)

ज्ञानी के लिये तो विविक्त देश सेवन (एकांत देश का सेवन) और जन संसदि (लोक समूह, भीड़ भाड़) से अरति (लगाव या स्नेह का न होना) ही उचित है। लोक समूह का निरन्तर सम्पर्क (लोक समूह में हमेशा रहना) और नगर की हलचल का निवास ही अनेक प्रकार के विकार उत्पन्न कर देने का कारण है। श्री भरतलाल जी श्री भरद्वाज जी से मिले, तो श्री भरद्वाज जी ने कहा कि यदि सच पूछिये तो –

सब साधन कर सुफल सुहावा।
लखन, राम, सिय दरसनु पावा॥
तेहि फल कर फलु दरस तुम्हारा।
सहित पयाग सुभाग हमारा॥

भरतलाल जी को श्री भरद्वाज जी की, की हुई यह प्रशंसा अपने प्रति अतिशयोक्ति सी प्रतीत हुई। श्री भरद्वाज जी यह समझ गए कि भरत जी को मेरी कही हुई बात अतिशयोक्ति (आवश्यकता से अधिक मिथ्या प्रशंसा) ज्ञात हो रही है, अतः उसी समय भरद्वाज जी ने समाधान किया कि तुम्हें कदाचित् मेरी बात झूठी प्रशंसा समझ पड़ रही है, परन्तु –

सुनहु भरत हम झूठ न कहहीं।

भरत जी! हम लोग झूठ नहीं बोलते। "हम" शब्द से यहाँ बहुवचन है, यदि अपने ही लिए कहते तो एकवचन का प्रयोग करते, कि –

सुनहु भरत मैं झूठ न कहहूँ।

परन्तु "मैं" कहने से आत्म-प्रशंसा होती है और वह मिथ्याभिमान की द्योतक होती। अतः सभी तपस्वी साधुओं की संगति लगाकर कह रहे हैं कि – "हम झूठ न कहहीं" हम लोग झूठ नहीं बोलते। यदि यह प्रश्न हो कि झूठ नहीं बोलते, इसमें प्रमाण क्या है? तो उसका कारण दे रहे हैं कि झूठ वही लोग बोल सकते हैं, जिन्हें जन समूह से सम्पर्क रखना पड़ता है और नगर में निवास करना पड़ता है। क्योंकि लोक समूह में रहकर कभी न कभी, कुछ न कुछ झूठ निकल ही जाता है। इसलिए

हम लोक समूह से तो उदासीन हैं और तापस हैं, "वन रहहीं" – वन में एकान्त में रहते हैं। इन दोनों झूठ बोलने के कारणों से पृथक रहने के कारण, हम लोगों को झूठ बोलने का कभी अवसर ही नहीं पड़ता। अतः "सुनहु भरत हम झूठ न कहहीं।" यही कारण है कि जो ज्ञानी है उसे जन समूह की हलचल में रहना पसंद नहीं होता। तो फिर विश्वामित्र, महामुनि ज्ञानी होकर भला किसी जन समूह से घिरे हुए नगर में क्यूँ रहते? अतः "बसहिं विपिन शुभ आश्रम जानी।" वन प्रदेश को ही शुभ आश्रम समझ, निवास करते थे।

आध्यात्मिक पक्ष से विचार – प्रत्येक मनुष्य का विचार ही विश्वामित्र है। जिस मनुष्य का विचार ठीक है, वही मनुष्य विश्व का मित्र है। जिसका विचार ठीक नहीं है, वह सब का शत्रु है। अतः विचार का नाम है विश्वामित्र। और यह विश्वामित्र "विचार" महामुनि है। अर्थात् विचारवान मनुष्य बोलता बहुत कम है, मनन विशेष करता है, अतः यह विचार ही महामुनि है। इसलिये विचार में ही ज्ञान रहता है, अविचारी में ज्ञान नहीं रहता। तो यह विचार ही ज्ञानी है, यह विचार प्रत्येक मनुष्य के एकान्त भाग (समस्त इन्द्रियों की हलचल वाले शरीर से ऊपर) एकान्त मस्तिष्क में निवास करता है। मस्तिष्क ही वह शुभ पवित्र आश्रम है जहाँ शुद्ध ब्रह्मचर्य केन्द्रित रहता है। इसलिये उस मस्तिष्क, शुभ आश्रम में विश्वामित्र निवास करता है।

तहँ जप जज्ञ जोग मुनि करहीं।
अति मारीच सुबाहुहि डरहीं॥

विश्वामित्र जी उस वन प्रदेश में रहकर जप, जज्ञ, जोग करते हैं, परन्तु मारीच-सुबाहु नामक प्रधान दोनों उपद्रवी राक्षसों से भयभीत रहा करते हैं। जो समस्त विश्व का मित्र है वह ज्ञानी, जप, (नाम–स्मरण आदि) उपासना करता है। यज्ञ (सभी काम्य) कर्म करता है। यज्ञ नाम है कर्मों का। तभी तो भगवान् ने अर्जुन से कहा है कि –

मन्मनाभव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।

मुझमें मन लगाओ, मेरे भक्त बनो, मेरे लिये यजन (यज्ञ) करो। अतः यज्ञ नाम है – उचित करने योग्य निष्काम कर्मों का।

इन कर्मों के द्वारा यज्ञ करता है। और ज्ञानी तो है ही, इसलिये योग तो उसका प्रधान कर्त्तव्य है ही। इस प्रकार कर्म उपासना और ज्ञान (साधन–त्रय) करने वाला ही विश्व का मित्र – विश्वामित्र होता है।

अध्यात्म पक्ष में – विचार रूपी विश्वामित्र के तीन मार्ग हैं, अथवा तीनों मार्गों द्वारा उसकी गति प्रशस्त होती है। **विचार** – जप करके उपासना मार्ग में कार्य करता रहता है। **यज्ञ** – निष्काम कर्म करके कर्म मार्ग में आगे बढ़ता रहता है। तथा **योग** – साधन में यदि विचार पड़ा, तो ज्ञान मार्ग के द्वारा मोक्ष प्राप्त करने का अधिकारी होता है। अथवा कर्म और उपासना (जप यज्ञ) करते करते योग मार्ग में प्रवृत हो जाता है, और अन्त में ज्ञानार्पित होकर मोक्ष प्राप्त कर लेता है। इसलिए जप, यज्ञ, योग करने वाला यह विचार ही इस शरीर में विश्वामित्र है। परन्तु श्री विश्वामित्र को जप, यज्ञ, योग करने में मारीच-सुबाहु का भय रहता था। जप, यज्ञ, योग ये अपने स्वार्थ के लिए नहीं परमार्थ के लिए करते थे। क्योंकि इन्हें कोई वस्तु अप्राप्य तो थी नहीं। ये स्वयम् नवीन सृष्टि निर्माण-कर्त्ता थे, भला इन्हें किस वस्तु की आवश्यकता थी कि जप, यज्ञ, योग के द्वारा उसे प्राप्त करने की इच्छा रखते? इन्हें तो अपने जप, यज्ञ, योग के द्वारा लोक का कल्याण करना ही अभीष्ट था। रावण ने अपने दो प्रधान नायकों को सिद्धाश्रम (बक्सर) में इसीलिए रख छोड़ा था, कि यहाँ केन्द्र बनाने से समस्त भारत में राक्षस धर्म का प्रचार हो जायगा। और जब जनता में राक्षस धर्म के प्रति अभिरुचि बढ़ जायगी, तो मेरा शासन स्थापित होने में न कोई बाधा होगी, न कोई विलम्ब लगेगा। राक्षस धर्म का प्रचार करने में विलासिता का प्रयोग ही अमोघ तंत्र था। राक्षस धर्म के प्रति गोस्वामी जी ने अपने ग्रन्थ में सुस्पष्ट लिखा है कि –

पर द्रोही, पर दार रत, पर धन पर अपवाद।
ते नर पामर, पापमय, देह धरे मनुजाद॥

इस धर्म का विरोध, परोपकारी विश्व का कल्याण चाहने वाले

विश्वामित्र करते थे। परन्तु जहां विरोध में जप, जज्ञ, जोग प्रारम्भ हुआ नहीं कि राक्षस धर्मावलम्बी मारीच-सुबाहु उसे नष्ट कर देते थे। इसलिए विश्वामित्र चाहते थे कि ये राक्षस इस स्थान को खाली कर दें, तो यह देश राक्षस धर्म के प्रचार से सुरक्षित रह जाय और यहाँ की धर्म, कर्मनिष्ठ जनता अपने सदाचार की रक्षा कर सके। यही कारण था इन मारीच सुबाहु से भयभीत रहने का।

अध्यात्म पक्ष में – मारीच अर्थात् वासनाओं का चमकने वाला **सौन्दर्य।** और **सुबाहु** जिसकी बड़ी पुष्ट भुजाएँ हैं, यह है प्रत्येक प्रकार का प्रलोभन। विचार विश्वामित्र जब कभी जप, यज्ञ, योग में तत्पर होता है, तभी यह बाह्य सौन्दर्य और प्रलोभन इसके जप, यज्ञ को व्यर्थ कर देता है। इसीलिये इस विचार विश्वामित्र को इन दोनों महाराक्षसों से सदा भय बना रहता है। क्योंकि –

देखत जग्य निसाचर धावहिं।
करहिं उपद्रव मुनि दुख पावहिं॥

जहाँ इन निशाचरों ने यज्ञ (शुभ कर्म) देखा, कि उन्हें नष्ट करने के लिए उपद्रव पर कटिबद्ध हो गए, जिससे कि मुनि (विचार) को बड़ा क्लेश हो जाता था और –

गाधितनय मन चिन्ता व्यापी।
हरि बिनु मरहिं न निसिचर पापी॥

कामएष क्रोध एष रजोगुण समुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्धयेनमिह वैरिणम्॥

गाधितनय – विश्वामित्र के मन में यह चिन्ता हुई कि यह पापी निशाचर प्राणीमात्र की हत्या करने वाले, जाल में फंसाने वाले, जीव की सामर्थ्य से बाहर हैं। इन्हें तो हरि ही मार सकते हैं, मनुष्य तो इन्हें मार नहीं सकता।

अध्यात्म पक्ष में – यह महामोहन सौन्दर्य और प्रलोभन, तथा

इसका दल काम, क्रोध, मद, मात्सर्य आदि समस्त प्राणी मात्र को इतना वशीभूत कर लेता है कि प्राणी इस महा भयंकर जाल से छूट नहीं पाता। और जाल में फँसा हुआ जीव भला छूटने का प्रयत्न कर ही कैसे सकता है? और जब स्वयं छूटने में ही असमर्थ है, तो भला जिनके जाल में फँसा हुआ है उनका नाश कैसे कर सकता है? इसलिए विचार यह सोच रहा है कि मनुष्य की तो न इन निशाचरों से छूटने की सामर्थ्य है, न इनको मारने की सामर्थ्य है, यह तो हरि की ही शक्ति है कि अपनी शरण में जीव को लेकर इन असुरों का नाश कर दें।

देवीह्येषागुणमयी मममाया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्तिते॥

इसलिये इन निशाचरों से त्रस्त जीवों को छुड़ाने के लिये, स्वतंत्र करने के लिए हरि (हरति इति हरिः – जो समस्त उपद्रवों को हरण कर लेता है उस हरि) के ही पास चलना चाहिए।

निशाचर शब्द से यहाँ (निशायां चरति इति निशाचरः) जो निशा में, रात्रि में प्रधान गति रखता है (चर-गति भक्षणयोः) उसका नाम है निशाचर। यहाँ निशा कौन सी है?

मोहनिशा सब सोवनि हारा।
देखहिं सपन अनेक प्रकारा॥

मोहनिशा में ही इस बाह्य सौन्दर्य और प्रलोभन की गति है, इसलिए ये निशाचर हैं। इन निशाचरों को समाप्त करने के लिए, विचार जब हरि की शरण लेता है तभी ये निशाचर नष्ट हो जाते हैं और विचारशील प्राणियों का यह आश्रम शुद्ध, परिष्कृत एवं स्वतंत्र हो जाता है।

तब मुनिवर मन कीन्ह विचारा।
प्रभु अवतरेउ हरन महि भारा॥

इसलिए विश्वामित्र जी ने विचार किया है कि वे हरि भगवान अवतरित हो गए हैं। उन परब्रह्म पुराण पुरुषोत्तम सच्चिदानन्द को अवतरित

होने की क्या आवश्यकता? क्या इस सृष्टि में वह भी विहार करने आये हैं? नहीं उनका अवतार हुआ है केवल "हरन महि भारा" – पृथ्वी का बोझ उतारने के लिये। पृथ्वी के भार हैं कौन? इसे गोस्वामी जी एक स्थल पर सुस्पष्ट कर रहे हैं कि यह पृथ्वी गोरूप धारण करके देवलोक में पहुंची और पुकारने लगी कि "मुझे बचाओ नहीं तो मैं पाताल में धंस जाऊँगी।" देवताओं ने कहा कि कैलाश, सुमेरु, हिमालय, विन्ध्याचल आदि कोई पहाड़ कुछ बढ़े तो है नहीं, फिर भला तू पाताल में किस बोझ से चली जायगी?

पृथ्वी ने कहा कि –

गिरि सरि सिन्धु भार नहि मोहीं।
जस मोहिं गरुअ एक परद्रोही॥

पहाड़ों का, नदियों का, समुद्रों का बोझ मुझे नहीं सता रहा है, जैसा कि मुझे परद्रोह करने वाले व्यक्ति का बोझ दबाए हुये है। परद्रोही के बोझ से ही मैं धरातल में चली जाऊँगी। अतः इन परद्रोहियों को मुझ पर से हटाने की कृपा कीजिये।

श्रीभरतलाल जी के बहाने से कैकेई ने राज्य माँगा, अयोध्या में भी कितने ही ऐसे लोग थे कि जो – "एक भरत कर सम्मत करहीं।" श्री वसिष्ठ जी ने भी कह दिया कि – "जेहि पितु देहि सो पावै टीका।"

अतः राम को वनवास देकर उनके राज्य को छीन लेने का परद्रोह आरोपित हो रहा था। भरतलाल जी ने कहा कि यह पृथ्वी परद्रोही के भार से ही ऊबकर देवताओं के पास पुकारने गई थी, परद्रोही का भार इससे सम्हाला नहीं जाता। मैं परद्रोही के अपराध से आरोपित तो हो चुका हूँ, परन्तु इस धरा को अभी मेरे परद्रोह पर विश्वास नहीं है। इसलिए यह पृथ्वी मेरी ओर आँख लगाए हुए है कि देखूं भरतलाल पर जो परद्रोह की आशंकाएँ की जा रही हैं, वह सही है या नहीं। अब यदि आप लोग कहीं हठ करके मुझे राज्य दे दोगे, तो मैं पूरा परद्रोही सिद्ध हो जाऊँगा और राज सिंहासन पर जैसे ही मेरा पैर पड़ेगा कि उसी समय –

मोहि राज हठि देहहु जबही।
रसा रसातल जाइहि तबहीं॥

उपरोक्त उदाहरणों से यह सिद्ध हुआ कि पृथ्वी के भार परद्रोही होते हैं। विश्वामित्र ने सोचा कि यह राक्षस ही परद्रोही हैं, यही पृथ्वी के भार हैं। इन्हीं के हरण करने के लिए प्रभु का अवतार हो गया है। तो फिर मुझे बीच में अपना प्रयत्न न करना चाहिए, अपितु जिसका अवतार ही केवल पृथ्वी का भार हरण के लिए हुआ है, यह कार्य उसी के हाथ में सौंप देना चाहिए।

अध्यात्म पक्ष में – पृथ्वी यह शरीर है। इसमें "पर" है – भगवत् चिन्तन (परम पुरुषयोऽर्हि योगिवर्याग्रगण्यम्)। परम पुरुष भगवान का ध्यान "पर" ही है, उसके द्रोही यह काम, क्रोध, लोभ, मद आदि राक्षस हैं। इसलिए यह परद्रोही जब तक इस शरीर में बलवान हैं, तब तक इस शरीर का क्रमशः पतन होता जा रहा है। इस शरीर संरक्षण और परद्रोहियों के विनाश के लिए ही भगवान, वह परमात्म स्वरूप आत्मा रूप से अवतरित है (आत्मबल होता ही इसलिए है कि इन विकारों को समूल नष्ट कर दे)। तो फिर विचार को क्यूँ व्यर्थ की चिन्ता में समय नष्ट करना चाहिये। वह तो उस अवतरित आत्मतत्व को लेकर इस मस्तिष्क ब्रह्मांड में (विपिन के शुभाश्रम में) लाकर बैठा दे, फिर तो ये परद्रोही उसके प्रतिष्ठापित होते ही स्वयं नष्ट हो जायेंगे। अतः –

तब मुनिवर मन कीन्ह विचारा।
प्रभु अवतरेउ हरन महि भारा॥
एहूँ मिस देखौं पद जाई।
करि विनती आनौं दोउ भाई॥

राक्षसों का नाश करने के लिए तो – "प्रभु अवतरेउ हरन महि भारा" हो ही चुका है, मैं उन्हें बुलाकर लाऊँ या न लाऊँ। वे तो किसी न किसी दिन इन राक्षसों का नाश करेंगे ही, मुझे उन्हें लाकर इस यज्ञ भूमि (पवित्र भूमि) को हत्या भूमि क्यों बनाना चाहिए? मुझ साधु एवम्

तपस्वी को इन प्रपंचों से क्या काम? परन्तु श्री अवध मुझे अपने इस यज्ञ रक्षा कार्य के निमित्त नहीं जाना है। अपितु जिस कार्य के लिए जाना है, यज्ञ रक्षा ही केवल उसका निमित्त है। मैंने संसार का त्याग किया। राज पाट, धन, धाम सब कुछ छोड़ा, परन्तु यह सब करने का फल जो कुछ होना चाहिए वह न मिला। तप तीर्थ त्याग का फल है –

आजु सफल तप तीरथ त्यागू।
आज सफल जप जोग विरागू॥
सफल सकल शुभ साधन साजू।
राम तुम्हहि अवलोकत आजू॥
सब साधन कर सुफल सुहावा।
लखन राम सिय दर्शन पावा॥

जप, योग, तप, त्याग, विराग सभी साधनों का फल है – श्रीराम प्रेम, श्रीराम की कृपा एवं श्रीराम का दर्शन। यदि यह न हुआ तो सभी साधन व्यर्थ हैं।

मैंने त्याग और तप तो इतना किया कि ब्रह्मा को भी मेरे चरणों पर नत मस्तक होना पड़ा। परन्तु इस त्याग तप में केवल ईर्ष्या, द्वेष अभिमान की ही वासना थी, श्रीराम दर्शन की लालसा कभी नहीं हुई। केवल वसिष्ठ से संघर्ष करते करते ही, जीवन अवधि से अधिक व्यतीत हो गया।

कुछ वर्ष पूर्व सुना भी कि भगवान् का अवतार हो चुका है, और सभी देवता, महर्षि, यहाँ तक कि मेरे इष्टदेव भगवान् शंकर भी, श्री राघवेन्द्र का दर्शन करने अवध धाम गए। परन्तु मैं फिर भी दर्शन लाभ नहीं ले सका। श्रीराम दर्शन के लिए साधन काम नहीं देते, निमित्त चाहिए। निमित्त से ही प्रभु के दर्शन कभी हो जायँ तो हो जायँ, साधन तो उनके दर्शन कराने में असमर्थ हैं।

श्री जनक का ज्ञान, जनकपुर वासियों का सन्त स्वभाव और साधन, राम का दर्शन न करा सकता यदि वह शापित धनुष निमित्त न बन

जाता। साधनों से प्राप्त किए हुए राम – श्रीदशरथ जी की आँखों से ओट हो गए, चले गए, रह न सके। क्यों? भरत की राजगद्दी यदि निमित्त न होती तो ग्रामीण जन और ग्राम बधूटियों को श्रीराम के दर्शन कैसे होते। निषादराज "देव धरनि धन धाम तुम्हारा" कहकर भी राम के चरण स्पर्श, एवम् चरणोदक न ले सके, केवट से स्वयम् खुशामद करके अपने चरण धुला रहे हैं। क्यों? निषादराज के पास सर्वस्व समर्पण का साधन था, परन्तु केवट के पास निमित्त थी वह पुरानी–धुरानी काठ की नौका, जिससे विमल भक्ति वर उसे मिल गया। आदि आदि अनेक उदाहरण सुस्पष्ट हैं कि राम प्रेम, राम की कृपा, राम के दर्शन साधनों से नहीं मिलते, अपितु निमित्त के (बहाने से) मिल जाते हैं।

यह गुन साधन ते नहिं होई।
तुम्हरी कृपा पाव कोइ कोई॥

भगवत्कृपा, दर्शन करा देने का कोई न कोई बहाना निकाल लेती है। अतः विश्वामित्र जी विचार कर रहे हैं कि निशाचर नाश या यज्ञ रक्षा से मेरा तो कोई व्यक्तिगत लाभ है नहीं, परन्तु श्री राम दर्शन करने का, यज्ञ रक्षा बहाना बहुत सुन्दर है, इस बहाने से –

एहि मिस मैं देखौं प्रभु जाई।

श्री राघवेन्द्र के मुझे दर्शन हो जाएँगे। मुख्य कार्य तो श्रीराम प्रभु का दर्शन है, यज्ञ रक्षा नहीं। यज्ञ रक्षा तो श्रीराम दर्शन का बहाना मात्र है। दर्शन हो जाने पर प्रार्थना करूँगा और दर्शन दे देने पर भगवान् प्रार्थना स्वीकार कर ही लेंगे; क्योंकि उनका स्वभाव शील से युक्त है। "सकुचत सकृत प्रणाम किये ते" इसलिए दर्शनों के बाद प्रार्थना करने पर दोनों भाइयों को साथ ले भी आऊँगा, यह मुझे पूर्ण विश्वास है। अतः –

करि बिनती आनौं दोउ भाई।

यदि केवल राम दर्शन ही अभीष्ट है तो दोउ भाई लाने का संकल्प क्यों है? बड़े लोग बिना सेवक के कहीं नहीं जाते। ब्रह्म और जीव का

सहज सम्बन्ध है, पृथक रह ही नहीं सकते। भगवान् के दर्शनों का लाभ तभी है कि उनके भक्त के भी दर्शन हों – "तेहि फल कर फल दरस तुम्हारा।" इसलिए भक्त और भगवान् – "आनौं दोउ भाई" – दोनों का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है, बिना उपासक के उपास्य की सेवा विधि कैसे जान सकूँगा। इसीलिए दर्शनों के लिए तो केवल एक वचन है – "मैं देखौं प्रभु जाई।"

परन्तु यहाँ लाने में "आनौं दोउ भाई" अर्थात् प्रभु दर्शन करके उन की उपासना विधि जानने के लिए श्री लक्ष्मणलाल जी जैसे उपासक को भी लाऊँगा जिससे कि उपासना विधि उनसे सीखता रहूँ। यदि उपासना विधि के सीखने का आचार्य ही बनाना था, तो लक्ष्मण जी को ही क्यों पसन्द किया, श्री भरतलाल जी को लाने का संकल्प क्यों नहीं किया? श्रीभरतलाल जी प्रेमी हैं, वह प्रेम पंथ भला मुझ जैसे रूखे उदासीन रहने वाले को किस प्रकार सुगम होगा? लक्ष्मण जी शिशु भाव से उपासना करते हैं। वह सभी प्रकार से प्रभु द्वारा स्वीकृत हैं, अङ्गीकृत हैं और क्षम्य भी हैं। मुझसे एक नहीं अनेक त्रुटियाँ हो सकती हैं, मैं अभी नया ही तो उपासना मार्ग में चलूँगा। इसलिए आचार्य वही ठीक है कि जो सर्वतोभावेन अङ्गीकृत भी हो और क्षम्य भी हो, धीरे धीरे साधन करते करते सम्भव है कि प्रेमी भी बन जाऊँ। परन्तु पहले ही प्रेम पथ में चलना कठिन है। इसलिए लक्ष्मण जी को ही आचार्य बनाना उत्तम है। अतः श्री लक्ष्मण जी के साथ ही श्रीराघव को लाने का संकल्प कर रहे हैं कि –

करि बिनती आनौं दोउ भाई।
ज्ञान विराग सकल गुन अयना।
सो प्रभु मैं देखब भरि नयना॥

यज्ञ के बहाने आप देखने किसे जा रहे हैं? अखिल ब्रह्माण्ड नायक, निर्गुण, निराकार, परम पुराण, पुरुषोत्तम, परमानन्द, सच्चिदानन्द ब्रह्म को! हाँ, देखने तो उसी को जा रहे हैं, परन्तु केवल अध्यात्मवाद के ध्यानजनित अनुभवानन्दात्मक ब्रह्म को नहीं अपितु–

सब कर परम प्रकाशक जोई।
राम अनादि अवधपति सोई॥
जगत प्रकाश्य प्रकाशक रामू।
मायाधीश ज्ञान गुन धामू॥

दिव्य ज्ञान स्वरूप ब्रह्म के दर्शन करने जा रहे हैं। ज्ञान ही तो प्रभु है, समर्थ है, ज्ञान से ही संसार के सभी जीव तथा सूर्य चन्द्रादिक विश्ववन्द्य प्रकाशों को भी प्रकाश मिलता है। जहाँ कभी चन्द्र सूर्यादि की भी गति नहीं पहुँच पाती, वहाँ केवल "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" ही का तो आलोक जगमगाता रहता है।

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम॥

अतः उस ज्ञान स्वरूप साकार ब्रह्म को देखने जा रहे हैं। साथ ही वह केवल ज्ञान ही नहीं, विराग के प्रतीक ब्रह्म को भी देखने जा रहे हैं। जो ज्ञान है, उसका विरागी होना परमावश्यक हैं। यदि मिथ्या प्रपंच से विराग न हो, तो ज्ञान कैसा? और ज्ञान होने पर, यदि विराग न हो तो फिर ज्ञान की सार्थकता क्या? इसलिए ज्ञान और विराग युगल स्वरूप ब्रह्म को देखूंगा।

ज्ञान विरागमय ब्रह्म देखने चले हैं तो निर्गुण निराकार ब्रह्म के दर्शनों की उमंग है? इसका अग्रिम अर्द्धांश में समाधान कर रहे हैं कि – ज्ञान विरागमय ब्रह्म को देखने तो जा रहा हूँ, परन्तु वह निर्गुण नहीं है – "सकल गुण अयना है" अर्थात् ज्ञान स्वरूप, परम तेज स्वरूप होते हुए भी समस्त गुणों के अयन अर्थात् स्थान हैं। निर्गुण नहीं है, गुणों के अयन हैं। गुणों की खानि नहीं, उन प्रभु में गुण निवास करते हैं।

वशी वदान्यो गुणवानृजुः शुचिर्मृदुर्दयालुर्मधुरः स्थिरः समः।
कृती कृतज्ञस्त्वमसि स्वभावतः समस्त कल्याण गुणामृतोदधिः॥

आचार्य ने पहले तो "गुणवान्" कहा, बाद को सन्तोष न हुआ तो

फिर "समस्त कल्याण गुणामृतोदधिः" कहा। अर्थात् गुणवान् से तात्पर्य है जो कि कल्याणकारी अमृतमय गुण है, उन गुणों से विभूषित। फिर भी सोचा कि कहीं यह शङ्का न हो कि गुण जब इनमें ही निवास करते हैं, तो फिर अन्य जीवों को तो गुण क्यों मिलते होंगे? (एतदर्थ एक सुन्दर शब्द का प्रयोग किया कि "समस्त कल्याण गुणामृतोदधिः" – सम्पूर्ण कल्याकारी गुण जो कि अमृत स्वरूप हैं)। शरीरों का नाश हो जाता है, परन्तु गुणों का नाश नहीं होता, अतः अमृत स्वरूप कहा। उन के प्रभु उदधि हैं, समुद्र हैं। समुद्र में अनन्त जल रहता है, समुद्र उस जल को अपने में समाये रखता है। फिर मेघों को आवश्यकता होती है तो उसी समुद्र से जल ले जाते हैं, वह दे भी देता है। वह मेघ उस जल को ले जाकर वर्षा कर देते हैं, जिससे संसार को सुख प्राप्त होता है और वह जल पुनः लोक कल्याण करके समुद्र में ही मिल जाता है। इसी प्रकार भगवान् गुणों के समुद्र हैं और "राम सिन्धु घन सज्जन धीरा" सन्त लोग मेघ हैं। श्रीराम सिन्धु से कल्याणकारी गुण जल को लेकर समस्त लोक में वर्षा करते हैं, जिससे लोक कल्याण होता है और जो गुण जल अवशिष्ट रह जाता है वह पुन: लौट कर श्रीराम सिंधु में समा जाता है। घनों से वर्षा होने के बाद जल सब पृथ्वी पर पड़ता है, तो उसमें मिट्टी का अंश मिल जाने से गन्दा हो जाता है।

भूमि परत भा ढाबर पानी।
जिमि जीवहि माया लपटानी॥

उसी प्रकार सन्त जन गुणों की वर्षा करते हैं तो कहीं-कहीं "विधि प्रपंच गुण अवगुण साना" संसार के संसर्ग से गुणों में मलिनता आ जाती है। परन्तु जब वर्षा समाप्त हो जाती है और निर्मल ऋतु शरद आ जाती है, तो मिट्टी नीचे बैठ जाती है और जल साफ हो जाता है। इसी प्रकार जब जीव का हृदय शान्त हो जाता है और "श्रीरामचन्द्र मुख चन्द्र छबि लोचन चारु चकोर" होकर शरद ऋतु का अनुभव करने लगता है, तो गुण जल शुद्ध हो जाता है और भौतिक विकार सब दब जाते हैं। अतः प्रभु गुणों के समुद्र हैं, अयन हैं, धाम हैं, वही "सकल गुन अयना" प्रभु

को देखने के लिए जा रहे हैं। गुण खानि इसलिए भी नहीं कहा कि खान से गुण पैदा होते हैं और धाम में रक्खे जाते हैं। श्री जनकनन्दिनी जी गुण की खानि हैं –

प्रभु जब जात जानकी जानी।
सुख सनेह सोभा गुन खानी॥

हा गुन खानि जानकी सीता।
रूप शील ब्रत नेम पुनीता॥

अतः श्री जनकनन्दिनी जी यदि गुण की खानि हैं तो राघवेन्द्र उन गुणों के वासस्थान – गुण-अयन हैं। क्या सुन्दर क्रम है, ब्रह्म सगुण होता है और आह्लादिनी शक्ति ही गुणों को प्रकट करती है तथा उन्हें सुरक्षित रखने के लिए ब्रह्म को देती है। अतः वह निर्गुण ब्रह्म सगुण हो जाता है। इसलिए "प्रभु गुण अयना" हैं, उन्हीं के दर्शनों को विश्वामित्र जी जा रहे हैं।

कुछ वीतराग महात्माओं का यह भी विचार है कि ज्ञान स्वरूप श्री राघव हैं और विराग स्वरूप श्री लक्ष्मण हैं, इन दोनों ही प्रभु के दर्शनों को विश्वामित्र जी चले। भगवान् स्वयं ज्ञान रूप होने के नाते किससे अनुराग करें और किसका त्याग करें?

जड़ चेतन गुन दोष मय, विश्व कीन्ह करतार।
संत हंस गुन गहहिं पय, परिहरि बारि बिकार॥

अत: –

तेहि तें कछु गुन दोष बखाने।
संग्रह त्याग न बिनु पहिचाने॥

अस बिबेक जब देई विधाता।
जब तजि दोष गुनहि मन राता॥

संग्रह त्याग की पहिचान का ही नाम है ज्ञान, इसलिये त्याग-निष्ठ अनुरागी भक्त ही होता है, ब्रह्म नहीं। तदर्थ भगवान् राम ज्ञान स्वरूप हैं, और उन ज्ञान स्वरूप राम को प्राप्त करने के लिये त्याग मूर्ति "लक्ष्मण" जिन्होंने वनवास के समय –

राम विलोकि बन्धु कर जोरे।
देह गेह सब सन तृन तोरे॥

राम का साथ करने के लिये तो देह गेह का तृण समान त्याग ही करना पड़ता है, इसलिये लक्ष्मण जी ने देह गेह सब त्याग कर दिया, तभी तो यह त्यागमूर्ति हो गये। तो फिर विश्वामित्र जी दोनों को ही देखने के लिए जा रहे हैं – यह आश्चर्य की बात क्या है? अस्तु –

ज्ञान विराग सकल गुन अयना।
सो प्रभु मैं देखब भरि नयना॥

अध्यात्म पक्ष में – विश्वामित्रजी विचार हैं इन्हें तपस्या सिद्धि हो जाने के बाद आवश्यकता है – ज्ञान और विराग देखने की। जिस विचार को विराग प्राप्त न हुआ, वह विचार ज्ञान को कैसे देख सकेगा? इसलिए समस्त उत्तमोत्तम (तप, तीर्थ, ज्ञान, यज्ञ आदि) कर्म कर लेने पर विचार को ज्ञान दर्शन की आवश्यकता होती है, तब वह त्याग की ओर प्रवृत्त होता है। त्याग का लक्ष्य करते ही, ज्ञान ब्रह्म के दर्शन विचार को हो जाते हैं। इसलिए ज्ञान को देखने के लिए विचार जा तो रहा है, परन्तु त्याग के साथ ज्ञान को देखने का संकल्प है, बिना त्याग के ज्ञान प्राप्त होना ही दुर्लभ है। मान लिया जाय कि ज्ञान प्राप्त हो भी जाय, परन्तु उसमें त्याग की मात्रा न हो, तो वह ज्ञान केवल वाक्य ज्ञान ही रह जाता है।

अस कछु समुझि परत रघुराया!

बिनु तव कृपा दयालु! दास हित! मोह न छूटै माया॥
वाक्य-ज्ञान अत्यन्त निपुण, भव-पार न पावै कोई।
निसि गृहमध्य दीप की बातन्ह, तम निवृत्ति नहिं होई॥

जैसे कोउ एक दीन दुखी अति, असन-हीन दुख पावे।
चित्र कल्पतरु कामधेनु गृह लिखे न बिपति नसावै॥
पटरस बहुप्रकार भोजन कोउ, दिन अरु रैन बखानै।
बिनु बोले सन्तोष-जनित सुख, खाइ सोई पै जानै॥

जबलग नहिं निज हृदप्रकास, अरु विषय-आस मनमाहीं।
"तुलसिदास" तबलगि जगयोनि भ्रमत सपनेहुँ सुख नाहीं॥

एक कोरे वाक्य ज्ञानी सन्त थे, उनको सर्वदा यह वाक्य उच्चारण करने का अभ्यास पड़ा था कि – "घट ही में गङ्गा, घट ही में यमुना, घट ही में तीर्थ प्रयाग।"

एक दिन उनके एक युवक शिष्य ने उनसे कहा कि – महाराज! यदि आज्ञा दें तो मैं माघ मास में प्रयाग जाकर त्रिवेणी स्नान कर आऊँ? सन्त ने कहा – "बच्चा कहाँ त्रिवेणी स्नान करने जाएगा। अरे भाई, घट ही में गङ्गा, घट ही में यमुना, घट ही में तीर्थ प्रयाग।" युवक चुप हो गया कुछ उत्तर न दे सका। एक दिन ज्येष्ठ बैसाख की दोपहर में उस युवक शिष्य ने सन्त को अपने यहाँ भोजन के लिए निमन्त्रित किया। और तेल में भली भाँति करेले का शाक बनवाया। उसके साथ पूड़ियाँ और तेल का अचार आदि रखकर स्वामीजी को भोजन कराया। जब स्वामी जी ने इच्छा भोजन से तृप्ति पा ली, तो शिष्य ने प्रार्थना की कि "कहाँ दोपहर में जाइयेगा। महाराज! यहीं प्रबन्ध कर देता हूँ विश्राम करिये, जब जरा शाम को ठण्डा वक्त हो तो प्रस्थान करियेगा।" सन्त ने शिष्य की बात मान ली। सेवक ने एक कमरे में उत्तम शैया बिछा दी और स्वामीजी को शयन करा दिया।

कमरे में जल पात्र या जल नहीं रक्खा, बाहर जंजीर लगा दी और बाहर जाकर बैठ गया। स्वामी जी भरे पेट तो थे ही, निद्रा मग्न हो गए। थोड़ी देर के बाद जब स्वामी जी की आँख खुली, तो प्यास के मारे उनकी बुरी हालत थी। तेल के करेले और अचार ने उन्हें प्यास से व्याकुल कर रक्खा था। स्वामी जी ने सेवक को पुकारा। सेवक ने सुन तो

लिया परन्तु कमरा खोला नहीं। स्वामी जी लगातार पुकारने लगे, लेकिन सेवक सुनने का नाम ही न लेता था। जब प्यास के मारे स्वामी जी के प्राण व्याकुल हो गए और सेवक ने सोचा कि प्यास से कहीं शरीर न छोड़ दें, तब वह आया और कमरे का दरवाजा खोलकर बोला "महाराज क्या बात है? कहिए आज्ञा?" सन्त ने कहा कि "मूर्ख, मैं तो प्यास के मारे मरा जा रहा हूँ और तूने न यहाँ जल रक्खा, न मेरी आवाज सुनी। ऊपर से कमरे की जंजीर भी लगा दी। क्या प्राण लेने का इरादा था?" सेवक ने कहा "भगवन्! मैंने तो सोचा कि आपके घट ही में गङ्गा, घट ही में जमुना, घट ही में तीर्थ प्रयाग है, फिर आपको जल की क्या कमी? आप को प्यास लगेगी तो उसी में से थोड़ा जल पी लेंगे।" स्वामी जी ने कहा कि "धूर्त कहीं के, क्या इन वाक्यों से लगी हुई प्यास बुझा करती है?" शिष्य ने कहा – "भगवन् इन वाक्यों से यदि प्रयाग न जाकर भी प्रयाग के स्नान का फल प्राप्त हो सकता है, तो फिर इन वाक्यों से प्यास क्यों बुझ नहीं सकती?" स्वामी जी संकुचित हो गए और सेवक ने जल देकर उनकी तृषा निवृत्ति की।

इस वाक्य ज्ञान से तो विचार को कभी सन्तोष नहीं होता, शान्ति प्राप्त नहीं होती। इसलिए ज्ञान दर्शन के हेतु वैराग्य का होना परमावश्यक है। अतः **विचार** विश्वामित्र, **ज्ञान** दर्शन को जा तो रहे हैं परन्तु **विचार** को **विराग** और **ज्ञान** दोनों को ही देखना है, केवल वाक्य ज्ञान का ही अनुभव नहीं करना है।

ज्ञान विराग सकल गुन अयना।
सो प्रभु मैं देखब भरि नयना॥

विचार ज्ञान-विराग को देखने जा रहा है, और उसका संकल्प है कि आज आँख भर कर देखूँगा। तो वह आँख कौन सी है जिससे ज्ञान-विराग देखे जायेंगे।

पावन पर्वत बेद पुराना।
राम कथा रुचिराकर नाना॥

मर्मी सज्जन सुमति कुदारी।
ज्ञान बिराग नयन उरगारी॥

ज्ञान-विराग को देखने के लिए ज्ञान-विराग ही नेत्र हैं। जैसे आँख में अञ्जन लगा कर, आँख को देखिए तो, आँख में ही तो अञ्जन लगा है, और उसकी शोभा देखती भी वही अञ्जन वाली आँख ही है। इस प्रकार आज **विचार** ज्ञान-विराग नेत्र से ही ज्ञान-विराग को देखने जा रहा है। विश्वामित्र जी यात्रा करने के समय किन विचारों में मग्न हो रहे हैं, इसका वर्णन गोस्वामी श्री तुलसी दास जी गीतावली में कर रहे हैं –

आजु सकल सुकृत फल पाइहौं।

आज तक सुकृत तो अनेक करता रहा परन्तु फल उनका नहीं मिला था, आज उनका फल प्राप्त करूँगा।

सुख की सींव अवधि आनन्द की,
अवध विलोकिहौं जाइहौं।

जो अयोध्या इस समय सुख की सीमा और आनन्द की अवधि – क्योंकि उसमें वह निवास कर रहा है कि –

जो आनन्द सिन्धु सुख राखी।
सीकर ते त्रयलोक सुपासी॥
आज उस अयोध्या को देखूँगा।
सुतन्ह सहित दशरथहिं देखिहौं॥
प्रेम पुलकि उर लाइहौं।
रामचन्द्र मुखचन्द्र सुधा छबि॥
नयन चकोरन्हि प्याइहौं।
सादर समाचार नृप बुझिहैं॥
हौं सब कथा सुनाइहौं।
"तुलसी" ह्वै कृतकृत्य आश्रमहि॥
राम लखन लै आइहौं।

सुतन्ह सहित दशरथहिं देखिहौं॥

सुतों (पुत्रों) को तो देखने जा ही रहे हैं, "दशरथहिं देखिहौं" की कामना क्यों है?

बात यह है कि उस पिता को भी देखूंगा कि जो परम पिता का भी पिता हो गया। उसे बड़े प्रेम से हृदय से लगाऊँगा। वह धन्य है, मैंने गृह छोड़ कर तपस्या की, और फिर भी जो प्राप्त करना चाहिए न कर सका। बस राजा ने गृहणी के साथ तपस्या की, और जो मेरे गुरुदेव शंकर को भी कठिनता से कभी कभी दर्शन देते हैं, उन्हें प्राप्त करके गोद में खिला रहा है। इसलिए राम, लक्ष्मण आदि सुत तो दर्शनीय हैं ही, परन्तु उनके पिता दशरथ भी उत्तमोत्तम दर्शनीय व्यक्ति हैं।

बहु बिधि करत मनोरथ जात लागि नहिं बार।
करि मज्जन सरयूजल गए भूप दरबार॥

अनेक प्रकार के मनोरथ करते हुए विश्वामित्र चले जा रहे हैं। जिस तरह अक्रूर जी मथुरा से श्री कृष्ण को लेने चले तो –

किं मयाऽऽचरितं भद्रं किं तप्तं परम तपः।
किं वाथाप्यर्हते दत्तं यद् द्रक्ष्याम्यद्य केशवम्॥

(श्रीमद्भागवत् १०-३८-३)

मेरे कौन से उत्तम चरित्र हुए हैं? मैं कौन सी परम तपस्या से तप्त हुआ हूँ? पूज्य जनों को मैंने कौन सा ऐसा दान दिया है कि जिसके फलस्वरूप आज श्री केशव के दर्शन प्राप्त होंगे, उन्हें देखूँगा। इति संचिन्तयन्।

इसी प्रकार विश्वामित्र जी भी "बहुविधि करत मनोरथ।" पहिले भी अयोध्या के दर्शन किए थे, जब वसिष्ठ से नन्दिनी के पीछे तकरार हुई थी। फिर भी अयोध्या के दर्शन किए थे, जब हरिश्चन्द्र का सर्वस्व अपहरण किया था। आज वह अयोध्या बदल गई है। अब वह केवल रघुवंशी राजाओं की राजधानी नहीं या महर्षि वसिष्ठ की यजमानी नहीं

रही, आज तो वह अयोध्या "अयोध्यापुरी मस्तके" आज समस्त विश्व में उसने अभूतपूर्व यह सम्मान प्राप्त किया है कि –

जहाँ सकल सुर शीशमनि, राम लीन्ह अवतार।

और स्वयं रामजी जिसे यह महत्व दे रहे हैं कि –

जद्यपि सब बैकुंठ बखाना।
बेद पुरान विदित जग जाना॥
अवधपुरी सम प्रिय नहिं सोऊ।
यह प्रसंग जानई कोउ कोऊ॥

आज तक लोग यह सोचते थे कि जिसने समस्त जड़-जंगमादि को जन्म दिया है, भला उसका भी कहीं जन्म स्थान है कि नहीं? लेकिन "यह प्रसंग तो कोउ कोऊ जानइ" सबको तो कैसे ज्ञात हो सकता था। आखिर लोग पूछ ही तो बैठे कि "भगवन्! वैकुण्ठ भी आपको अवध के समान प्रिय नहीं है, इसका क्या कारण है?" भगवान् ने युक्ति संगत उत्तर दिया कि भाई! सभी के लिए "जननी जन्म भूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी।" जन्म देने वाली माता, और जहाँ जन्म हो वह भूमि स्वर्ग से भी बढ़ कर होती है। मैं निराकार निर्गुण था, सगुण हो ही नहीं पाता था, परन्तु – "ज्ञान-भक्ति जनु धरे सरीरा।"

ते दसरथ कौसल्या रूपा।
कोसलपुरीं प्रगट नर भूपा॥

उन्हीं दोनों भक्ति-ज्ञान ने, जहाँ निवास करके मुझे प्रकट किया; जिस भूमि पर ज्ञान-भक्ति के द्वारा मेरा जन्म हुआ वह –

जन्म भूमि मम पुरी सुहावनि।
उत्तर दिशि सरयू बह पावनि॥

इसलिए इस जन्मभूमि अयोध्या के समान –

अवध सरिस प्रिय मोहि न सोऊ।

आज उस अयोध्या में जा रहा हूँ। और उस अयोध्या में जा रहा हूँ कि –

अवधपुरी बासिन्ह कर सुख सम्पदा समाज।
सहस सेस नहिं कहि सकहिं जहँ नृप रामविराज॥

उस सर्व सौन्दर्याधिपति रघुनन्दन के वहाँ दर्शन मिलेंगे कि जो –

सर्व सौभाग्य निलयं सर्वानन्दैक दायकम्।
कौशिल्या नदनं रामं केवलं भवखण्डनम्॥

सर्वानन्दैक दायकम्

मुख्य आनन्द तीन प्रकार के होते हैं – विषयानन्द, प्रेमानन्द, ब्रह्मानन्द।

विषयानन्द –

भाग्य विभव अवधेस कर देखि देव ब्रह्मादि।
लगे सराहन सहसमुख जानि जनम निज बादि॥

प्रेमानन्द –

रामचन्द्र मुखचन्द्र छबि लोचन चारु चकोर।
करत पान सादर सकल प्रेम प्रमोद न थोर॥

ब्रह्मानन्द –

मुनि मन मोद न कछु कहि जाई।
ब्रह्मानन्द रासि जनु पाई॥

(भरद्वाज)

इस प्रकार आनन्दत्रय का दाता राम जिस अयोध्या में विराजमान है, उस अवध में जा रहा हूँ।

(अयोध्यापुरी सा सर्व वैकुन्ठानामेव मूलाधारा मूल प्रकृतेः परा तत्सद् ब्रह्मरूपा विरजस्तारा दिव्यरत्न कोषाढ्या तस्यां नित्यमेव सीतारामयोर्विहारस्थलमस्तीति)

(अथर्वण उत्तरार्द्ध)

अनादिकाल से अन्तकाल तक, जो श्री परब्रह्म राम राजीव लोचन की दिव्यचिच्छिक्ति सहित विहार स्थली है, उस अवध को देखने चल रहा हूँ।

विचार विश्वामित्र, जहाँ **शान्ति** सीता और **आत्माराम** सर्वदा विहार करते रहते हैं, उस अयोध्या में जा रहा है। अभी तक जप-तप-नियम-संयमादि देशों में ही भ्रमी भूत होकर उस राम को देखने के प्रयत्न में था, क्योंकि यह उस **विचार** को ज्ञात था कि –

यस्तु रामं न पश्येत्तु यंच रामो न पश्यति।
निन्दितः सभवेल्लोके स्वात्मान्येनं विगर्हति॥

कान वह कान है जिसमें हो कहानी तेरी।
चाह वह चाह है जिसमें कि तू आबाद रहे॥
आँख वह आँख है जिस आँख ने देखा हो तुझे।
दिल वही दिल है कि जिस दिल में तेरी याद रहे॥

इस प्रकार "बहुविधि करत मनोरथ जात लागि नहिं बार" – जाते हुए देर नहीं लगी। बक्सर से अयोध्या तक एकसौ नवासी मील की यात्रा हुई और गोस्वामी जी कह रहे हैं कि "जात लागि नहि बार" जाते हुए देर नहीं लगी। यह कैसे सम्भव है?

बात यह है कि "लाग" शब्द का अर्थ यहाँ जाते हुए देर नहीं ज्ञात हुई। अर्थात् ऊपर कहे हुए संकल्प विकल्पों में इतने मग्न हो गए कि

रास्ता तय करना कुछ जान न पड़ा।

वो खुश किस्मत हैं जिनका श्याम सुन्दर से लगा दिल हो।
मगर दर्दे जुदाई का मज़ा उस दिल को हासिल हो॥

अजब है लुत्फ़ राहे इश्क पर इस तौर चलने में।
ख़याले यार हो नज़दीक लेकिन दूर मंज़िल हो॥

(मोहन–मोहिनी)

जब मनुष्य किसी ध्यान को लेकर चलता है, तो उसके संकल्प विकल्प में रास्ते की दूरी का पता नहीं चलता। अतः "जात लाग नहिं बार।"

इसी प्रकार विभीषण जब चले तो –

देखिहउँ जाई चरण जलजाता।
अरुन मृदुल सेवक सुखदाता॥
जे पद परसि तरी रिषिनारी।
दण्डक कानन पावनकारी॥
जे पद जनकसुताँ उर लाए।
कपट कुरंग संग धर धाए॥
हर उर सर सरोज पद जेई।
अहोभाग्य मैं देखिहउँ तेई॥

जिन्ह पायन्ह के पादुकन्हि भरतु रहे मन लाइ।
ते पद आजु बिलोकिहउँ इन्ह नयनन्हि अब जाइ॥

एहि बिधि करत सप्रेम बिचारा।
आयउ सपदि सिन्धु एहिं पारा॥

बहुत शीघ्र समुद्र के पार पहुँच गए। इसलिए मनोरथ के ऊहापोह में रास्ते का पता नहीं चलता, इसी प्रकार यहाँ भी विश्वामित्र जी को

"जात लागि नहि बार" कहा।

और भी यदि सुस्पष्ट करना चाहें तो – "बहुबिधि करत मनोरथ जात" – बहुत प्रकार के मनोरथ करते हुए (जात) चले जा रहे हैं, इसलिए "लाग नहिं बार" देर नहीं जान पड़ी।

कूचए यार की राह बताएँ तुमको।
जैसा मुश्ताक़ हो नज़दीक भी है दूर भी है॥

करि मज्जन सरयू जल

१ – प्रातः काल पहुँचे, इसलिए स्नानादिक क्रिया से निवृत्त होकर जाना ही उचित समझा।

२ – तीर्थ मिलने पर बिना मार्जन किए हुए, तीर्थ का उल्लङ्घन न करना चाहिए, इसलिए "करि मज्जन।"

३ – मार्ग का श्रम उतारने का स्नान ही प्रधान साधन है।

भक्त हेतु विधि भवन बिहाई।
सुमिरत सारद आवत धाई॥
रामचरित सर बिनु अन्हवाए।
सो श्रम जाइ न कोटि उपाए॥

अतः स्नान करके मार्ग श्रम दूर करके दरबार में गए।

४ – किसी के यहाँ किसी कार्य से जाना हो तो स्नान पूजनादि से निवृत्त होकर जाना चाहिए। न जाने वहाँ पर क्या समस्या हो, कैसी परिस्थिति हो? स्नान पूजन का समय मिले या न मिले? इसलिए "करि मज्जन।"

५ – गोस्वामी जी ने विश्वामित्र जी के अयोध्या पहुँचने का समय नहीं लिखा। क्योंकि पुराणों में "किस समय पहुंचे" इसमें सम्भवतः

मतैक्य न हो; इसलिए सभी ग्रंथों के मत का संरक्षण हो, विरोध किसी का न हो, ऐसा शब्द दिया, किसी समय भी पहुँचे हों श्री सरयू में स्नान करके ही गए। इसी प्रकार से अनेक स्थलों पर आपने सभी पुराणों के मत समर्थन का शब्द दिया है। यथा –

श्रीराम का नामकरण कितने दिन बाद हुआ? यह निश्चित् न करके आपने लिखा कि –

नामकरन कर अवसर जानी।
भूप बोलि पठए मुनि ज्ञानी॥

१ – नामकरण का जब अवसर समझा तब गुरुदेव को बुलाया।

२ – प्रातः काल पूजन का कौन सा समय था, जब पुष्प की आवश्यकता थी? तो आपने लिखा कि –

समय जानि गुरु आयसु पाई।
लेन प्रसून चले दोउ भाई॥

पूजन का जो भी समय था, वह जानकर दोनों भाई चले।

३ – विश्वामित्र जी ने जनक जी से कहा –

दूत अवधपुर पठवहु जाई।
आनहिं नृप दसरथहि बोलाई॥

जब विश्वामित्र जी ने कहा तभी दूत भेजे गए।

४ –

पहुँचे दूत राम पुर पावन।
हरषे नगर बिलोकि सुहावन॥

कब पहुँचे? इसे साफ नहीं लिखा।

५ – बारात कब तक ठहरी? तो कहा कि –

बहुत दिवस बीते एहि भाँती।
जनु सनेह रजु बँधे बराती॥

६ – अयोध्या में कंकण कब छोड़ा गया? तो लिखा कि –

सुदिन सोधि कल कंकन छोरे।
मंगल मोद प्रमोद न थोरे॥

(...इत्यादि)

इसी प्रकार यहाँ भी "करि मज्जन सरयू जल" कह कर सभी के मत का निर्वाह किया, सुस्पष्ट कोई समय नहीं लिखा।

गए भूप दरबार

राजा के दरबार में पहुंच गए। यहाँ दरबार में पहुंच जाने पर "मुनि आगमन सुना जब राजा।" अर्थात् राजा ने मुनि का आगमन सुना, तो फिर दरबार में पहुँच जाने पर आगमन सुनना कैसे सुसंगत होगा। वहाँ तो "मुनि आगमन दीख जब राजा" होना चाहिए। इस पर अनेक महानुभावों ने अनेक भाव दिए हैं। यथा –

१ – राजा उस समय पूजन गृह में थे, और मुनि राज–दरबार में पहुँचे, अत: पूजन गृह में मुनि का आगमन राजा ने सुना, तो दरबार में मिलने आए।

२ – "गए भूप दरबार" का आशय यह है कि –

"करि मज्जन सरयू जल" सरयू जल में स्नान करके महर्षि भूप दरबार की तरफ गए और उधर राजा ने आगमन सुना, तो वह भी दरबार की तरफ आए।

३ – राजाओं के कितने ही दरबार होते हैं, जैसे आम दरबार, ख़ास दरबार, मन्त्रणा दरबार, विद्वद् दरबार, विप्र दरबार, भूप दरबार (राजाओं का दरबार), तो विश्वामित्र जी भूप दरबार में पहुँचे जहाँ राजा लोग

चक्रवर्ती जी की प्रतीक्षा में थे, और चक्रवर्ती जी उस समय विप्र दरबार में थे, अतः विप्र दरबार में जब मुनि आगमन सुना तो विप्र समाज को लेकर मिलने चले।

४ – कितने ही महानुभाव "गए" शब्द को देहली दीपक मान कर यह अर्थ करते हैं कि विश्वामित्र जी "करि मज्जन सरयू जल" गए और गए भूप दरबार, राजा दरबार गए। अतः दोनों ही दरबार में मिले आदि आदि, अनेक प्रकार से दरबार शब्द को सिद्ध करने का प्रयास किया गया है।

यदि गोस्वामी जी के दरबार शब्द के प्रयोग को हम ठीक समझलें, तो यह सब कठिनताएँ दूर हो जाती हैं। दरबार शब्द फारसी का है। दर कहते हैं चौखट को, बार कहते हैं उसके भीतर के अवकाश को। संस्कृत या हिन्दी में जिसे द्वार कहते हैं, उसी को फारसी में दरबार कहते हैं। गोस्वामी जी ने अपनी भाषा को पूर्ण स्वतंत्रता दी है। इसी नाते फारसी शब्दों का भी समावेश यत्र तत्र है ही। जैसे "गरीब ग्राम नयनगर" या "गई बहोरि गरीब नेवाजू" यह शब्द फारसी के ही हैं। इसी प्रकार यह दरबार शब्द भी फारसी का ही रक्खा है। और द्वार के ही अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। जैसे –

प्रमुदित पुर नर नारि सब सजहिं सुमंगलचार।
एक प्रबिसहिं एक निर्गमहिं भीर भूप दरबार॥

(अयोध्या काण्ड)

भूप के दरबार में (द्वार में) भीड़ हो रही है, एक प्रवेश करते हैं एक बाहर आते हैं। यहाँ भी दरबार का अर्थ द्वार में ही लिया गया है।

भइ बड़ि भीर भूप दरबारा।
बरनि न जाइ विषाद अपारा॥

(अयोध्या काण्ड)

कैकेयी के महल में श्री दशरथ जी लेटे हैं। श्री राम और लक्ष्मण

एवं श्री जानकी जी वन के लिए तैयार होकर महाराज के पास जा रहे हैं। उस समय पुरवासी हाथ मलकर पछता रहे हैं, और सब के सब महल के दरवाजे पर एकत्रित हो गए हैं। वहाँ के दृश्य को प्रकट करते हुए गोस्वामी जी ने लिखा कि भूप दरबार (द्वार पर) बड़ी भीर भई।

जब लङ्का में अंगद जी रावण के यहाँ गए तो गोस्वामी जी लिखते हैं कि –

गयउ सभा दरबार तब, सुमिरि राम पद कंज।
सिंह ठउनि इत उत चितै, धीर वीर बल पुंज॥

अंगद जी सभा दरबार (सभा के द्वार) पर गए, और उस सभा दरबार (सभा के द्वार) से –

तुरत निसाचर एक पठावा।
समाचार रावनहि जनावा॥
सुनत बिहँसि बोला दशशीशा।
आनहु बोलि कहाँ कर कीसा॥

यहाँ भी दरबार शब्द का अर्थ द्वार ही लिया गया है। इसी प्रकार विश्वामित्र जी भी गए – "गए भूप दरबार।" राजा के द्वार पर पहुँचे, और वहाँ से ही सूचना महाराज श्री दशरथ जी को मिली।

अन्य ग्रन्थों से भी यह प्रमाण मिलता है, यथा –

साकेत नगरं दृष्ट्वा मुमुदे कौशिको मुनिः।
राज द्वार समागत्य ददर्श महती श्रियम्॥
द्वारपालाः समागत्य प्रणेमुः शिरसा मुनिम्।
मुनिना प्रेषितः सर्वे राजानां च विजिज्ञषु॥

(सत्योपाख्यान)

उस साकेत नगर (श्री अवध) को देखकर कौशिक मुनि प्रसन्न हुए। राजद्वार पर आकर उन्होंने बहुत विशाल शोभा को देखा। द्वारपाल गणों ने आकर ऋषिराज को प्रणाम किया। तब राजा को सूचना देने के लिए,

मुनि के द्वारा वह सब द्वारपाल गए। और बोले कि महाराज! –

अभ्यागच्छन् महा तेजा विश्वामित्रो महामुनिः।
स राजोदर्शनाकाँक्षी द्वाराध्यक्षानुवाचह॥

(वाल्मीकि रामायण)

महातेज श्री विश्वामित्र जी महामुनि पधारे हैं, और वह महाराज के दर्शनों की आकांक्षा रखते हैं। ऐसा उस द्वाराध्यक्ष (द्वारपाल) ने दशरथ जी से कहा। अस्तु! –

मुनि आगमन सुना जब राजा।
मिलन गयउ लै विप्र समाजा॥

राजा दशरथ जी ने जब मुनिराज का आगमन सुना तो विप्र समाज को लेकर मिलने चले।

१ – ब्रह्मर्षि से मिलने के लिए ब्राह्मणों का ही समाज लेकर जाना उचित है।

२ – हमारे यहाँ का ब्राह्मण समाज श्रीवसिष्ठ का अनुयायी है, मैं इस समाज को लेकर जाऊँगा, और मुनि का स्वागत करूँगा, तो यह समाज भी उनका आदर करेगा। और जब यह वसिष्ठ का ब्राह्मण समाज उनका आदर करेगा तो वह प्रसन्न होंगे, क्योंकि वसिष्ठ जी से ही तो वह ब्रह्मर्षि कहलाकर अपने को धन्य मानते हैं।

३ – विश्वामित्र जी **विचार** हैं, दशरथ जी **जीव** हैं, जीव को जब विचार से मिलने की आवश्यकता हो तो –

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्व दर्शिनः॥

विद्वान् ब्राह्मणों से ही **विचार** मिलता है। अतः ब्राह्मण समाज को ही साथ लेकर राजा गए।

करि दण्डवत मुनिहिं सनमानी।

निज आसन बैठारेउ आनी ॥

महाराजा दशरथ ने विश्वामित्र जी को दण्डवत् किया। बाँस की लकड़ी, जिसकी गाँठ होती है, वह पृथ्वी पर जब गिरती है तो उसकी सभी गाँठ पृथ्वी से मिल जाती हैं, उसी दण्ड के समान शरीर को पृथ्वी पर डालने का नाम है दण्डवत्। इसे साष्टांग दण्डवत् भी कहते हैं। यह आठ अङ्गों से प्रमाण किया जाता है।

पद्भ्यां कराभ्यां जानुभ्यामुरसा शिरसा तथा।
मनसा वचसा दृष्ट्या प्रणामोऽष्टांग ईरितः ॥

पैर, हाथ, जानु, उर, शिर, मन, वाणी और दृष्टि – इन आठ अङ्गों से प्रणाम कहा गया है। स्त्रियों के लिए सप्तांग प्रणाम होता है, उर (हृदय) पृथ्वी पर नहीं लगाया जाता।

पृथ्वी में आकर्षण शक्ति होती है और महत् पुरुषों के चरणतल से विद्युत् निकलती रहती है। शिर में विद्युत ग्रहण करने की शक्ति होती है। इसलिये साष्टांग प्रणाम करने से महापुरुषों की पवित्र विद्युत शक्ति पृथ्वी रज कण में आकर मस्तिष्क में प्रवेश करती है। यदि सम्पूर्ण शरीर शान्त और स्थिर होकर लेटा रहता है, तो वह पवित्र ज्योति मेरुदण्ड के द्वारा समस्त स्नायु में व्याप्त होकर शरीर को पवित्र कर देती है। यही इस प्राचीन प्रणाम की वैज्ञानिक व्यवस्था है। परन्तु आज का युग बहुत कुछ परिवर्तित हो चुका है, इसलिए यह प्रणाम भी अधिक असुविधाजनक हो गया है। उस युग में यह प्रणाम बहुत सुविधा पूर्ण एवं व्यवहार्य था, इसलिए राजा ने यही प्रणाम (करि दण्डवत) किया। और अनेक प्रकार से आदरणीय वचनों एवं पाँवड़े आदि बिछाते हुए, अपने राज सिंहासन (निज आसन बैठारेउ) पर लाकर बैठाला।

ब्राह्मणों को लेकर गए मिलने को, दण्डवत् की, सम्मान करके लाए, परन्तु महर्षि ने न तो कुछ आशीर्वाद ही दिया, न कुछ बोले ही। तब राजा को यह शंका हुई कि कहीं ब्रह्म मंडल के साथ सत्कार करने का तात्पर्य इन्होंने यह तो नहीं लगाया कि क्या दशरथ मुझे केवल ब्राह्मण

ही समझते हैं, ऐश्वर्य सम्पन्न राज सत्कार के योग्य मुझे नहीं समझते। इसलिए अपने राज सिंहासन पर ही लाकर बैठाला। अर्थात् मैं आपको ब्रह्मर्षि भी समझता हूँ और राजर्षि भी। नहीं तो संत महात्माओं को तो पृथक् पवित्र आसन देना चाहिए, अपने आसन पर बैठालने का क्या हेतु था ?

चरन पखारि कीन्हि अति पूजा।
मो सम आजु धन्य नहिं दूजा॥

महर्षि के चरण प्रक्षालन किए और षोडशोपचार पूजन किया। परन्तु विश्वामित्र जी फिर भी नहीं बोले।

दृष्ट्वा दशरथो राजा प्रत्युत्थाया चिरेणतु।
वशिष्ठेन समागम्य पूजयित्वा यथा विधि॥
अभिवाद्य मुनिं राजा प्रांजलिर्भक्ति नम्र धीः।
कृतार्थोस्मि मुनीन्द्रोहं त्वदागमन कारणात्॥

(अध्यात्म)

महर्षि को देखकर महाराजा दशरथ ने श्री वसिष्ठ जी के सहित यथा विधि पूजन करके, अभिवादन करके, हाथ जोड़कर नम्र बुद्धि से बोले कि हे मुनीन्द्र आपके आगमन से मैं कृतार्थ हो गया। क्योंकि –

साधूनां दर्शनं पुण्यं तीर्थं भूताहि साधवः।
कालेन फलते तीर्थं सद्यः साधु समागमः॥

सन्तों का दर्शन मात्र ही पुण्य है, क्योंकि साधु तीर्थ ही होते हैं। तीर्थ तो समय पाकर फल देते हैं परन्तु साधु समागम तो उसी समय फल दे देता है।

मज्जन फल पेखिय तत्काला।
काक होहिं पिक बकहु मराला॥

इसलिए "मोसम आजु धन्य नहिं दूजा" आप क्रोधावेश में तो कई

बार कई जगह गए हैं, परन्तु इस शान्त भाव से कभी कहीं नहीं पधारे। यह तो अलभ्य लाभ मुझे ही प्राप्त हुआ है। अतः "मो सम आजु धन्य नहिं दूजा।" गुरुदेव के यहाँ आए तो नन्दिनी के लिए संसार उलट पुलट देने पर तैयार हो गए, हरिश्चन्द्र के यहाँ आए तो सर्वनाश ही कर डाला। आज मेरे यहाँ तो इसकी कुछ भी सम्भावना नहीं देख पड़ती, अतः "मोसम आजु धन्य नहिं दूजा।" सभी जीव विचार की शरण में जाने को उद्यत रहते हैं। फिर भी विचार का मिलना कठिन होता है, परन्तु आज तो विचार स्वयं ही कष्ट करके जीव के पास आ गया है, अतः "मो सम आजु धन्य नहि दूजा।"

बिबिधि भाँति भोजन करवावा।
मुनिबर हृदयँ हरष अति पावा॥

यह भारतवर्ष की प्राचीन सभ्यता है। आए हुए अतिथि को सर्व प्रकार से सम्मानित कर लेने पर, सबसे पहले भोजन करवाना यहाँ की मानवता पूर्ण नीति है। आजकल यह परिपाटी केवल चाय पर ही समाप्त कर दी जाती है। उत्तर प्रदेश के तो कुछ प्रधान नगरों में केवल पान सुपारी इलायची देकर ही इस प्रथा का पालन करते हैं, फिर भी कुछ रीति चली तो आ रही है? नहीं तो, इस युग में जहाँ मनुष्य को मनुष्य से बात करने की फुर्सत नहीं है, बहुत ही अधिक सत्कार का भार समझा तो हाथ मिलाकर "हैलो" कहना ही अनन्त सत्कार का द्योतक हो जाता है। वहाँ चाय पान, इलायची, सुपारी का स्वागत कर देना, क्या प्राचीन भोजन कराने से कम कहा जा सकता है?

श्री दशरथ जी ने प्राचीन सभ्यता की रीति के अनुसार "बिबिधि भाँति भोजन करवावा।" इससे यह भी सूचित होता है कि श्री दशरथ जी की सभा में श्री विश्वामित्र जी (स्नान पूजन आदि से निवृत्त होकर) अनुमानतः मध्याह्न या मध्याह्नोपरान्त पहुँचे होंगे। और यह भी सम्भव हो सकता है कि श्री दशरथ जी भोजन कर रहे हों या कर चुके हों, तभी महर्षि के आगमन की सूचना मिली हो। इसलिए ऋषि को आसन पर बैठालते ही भोजन कराया। आगे भी विश्वामित्र जी से मिलने के बाद राजा

को (जब तक श्री राघव को उन्होंने विश्वामित्र जी के साथ विदा नहीं कर दिया तब तक) कोई अवकाश मिला ही नहीं। और राम को विदा करने के बाद तो श्री दशरथ जी भोजन करते ही क्या? इसलिए भोजन करके ही राजा श्री महर्षि से मिल सके थे। तभी महर्षि को भी भोजन कराने में – "बिबिधि भाँति" – इतना समय तो था नहीं कि महर्षि के सम्मान में अनेक पदार्थों का निर्माण कराया गया हो। तो फिर यह विविधि भाँति भोजन के आशय दो ही हो सकते हैं। एक तो यह कि महाराज के यहाँ नित्य जो भोजन बनता होगा, वह विविध प्रकार का ही बनता होगा; वह सभी प्रकार का भोजन करवाया। या यह भी हो सकता है कि महाराज के यहाँ महल में भोजन तो बनता ही होगा, परन्तु अतिथियों के लिए नित्य का प्रबन्ध कुछ पृथक रहता होगा, जिससे अतिथियों का सत्कार किया जाता होगा। उसमें प्रकार भी अनेक होते होंगे। क्योंकि उस युग में अतिथि अधिक से अधिक आदरणीय समझे जाते थे, जिस प्रकार ब्रिटिश युग में गवर्नर्स और इस युग में मिनिस्टर्स। अतः "बिबिधि भाँति भोजन करवावा।"

"बिबिधि भाँति" में एक आशय यह भी हो सकता है कि राजा ने भोजन के लिए कितनी ही भाँति से आग्रह करके भोजन करवाया। राजा ने भोजन के लिए कहा होगा, परन्तु विश्वामित्र ने सोचा होगा – भीख तो अनशन रहने पर ही मिल सकती है, भोजन के बाद माँगने का कोई महान् प्रभाव नहीं पड़ सकता। इसलिए कहा होगा कि नहीं, अभी इच्छा नहीं है, फिर करेंगे, अभी जल्दी क्या है? आदि आदि। परन्तु विविधि भाँति (अनेक प्रकार से आग्रह करके) आप श्रमित हैं, स्नान करके आए हैं, पहले भोजन कर लीजिए फिर बात करेंगे, इत्यादि विविधि प्रकार से आग्रह करके भोजन करवाया।

मुनिबर हृदयँ हर्ष अति पावा।

महर्षि भोजन पाकर बहुत प्रसन्न हुए। ब्राह्मण का यह महान गुण है कि कितने क्रोध में, क्षोभ में, आवेश में हो, परन्तु उसको आदर सत्कार सहित भोजन करा दिया जाय तो वह सन्तुष्ट एवम् प्रसन्न हो जाता है।

"ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्" – मुख के दो ही काम हैं – भोजन करना और बोलना। ब्राह्मण को भी यही दो कर्म मुख्य दिये गए। पहले ब्राह्मण वन प्रदेश में रहा करते थे, उन्हें भोजन आदि नगर से भेजने का प्रबन्ध था। उन सभी को भोजन की चिन्ता थी ही नहीं, रात-दिन शास्त्र चिंतन, पठन-पाठन चलता था, राष्ट्र कल्याण के लिए उत्तमोतम उपाय और साधनों का विचार करके ब्राह्मण ही समस्त जन समूह को उचित व्यवस्था देते थे। किसी राष्ट्र में उपद्रव हो, तूफान हो, युद्ध हो, मार काट हो – ब्राह्मणों की शान्ति भंग नहीं होने दी जाती थी। क्योंकि आपत्ति काल में उचित सलाह, उपाय, व्यवस्था ब्राह्मण ही देते थे। यदि उनके मस्तिष्क को शान्त न रखा जाता, तो वह कुछ सोच न पाते। इसलिए ब्राह्मण को भोजन कराना उस युग का परमोत्तम कर्म था। आज तो ब्राह्मण कोई पृथक वर्ण नहीं रह गए हैं। सभी मनुष्य ब्राह्मण हैं, सभी सलाहकार हैं और इस परिपाटी से यदि सत्य कहा जाय तो सभी भोजन भट्ट हैं। क्योंकि आज तो रोटी का ही प्रश्न है, जिससे हाहाकार मचा हुआ है। तो फिर केवल रोटी के ही लिए प्राणों की बाजी लगा देने वाले भोजन भट्ट नहीं, तो और क्या कहे जायेंगे? और यह प्रश्न भी अधिक मात्रा में इस ब्राह्मण देश (भारतवर्ष) में ही है। अन्य देशों में, इतना भीषण हाहाकार रोटी के लिए नहीं है – शान्ति प्राप्ति, आध्यात्मिकता एवं मानवता के लिए अवश्य है, जो कि होना ही चाहिए, और स्वाभाविक है। श्री दशरथ जी महाराज ने अनेक प्रकार से अनेक प्रकार के भोजन कराकर महर्षि विश्वामित्र को प्रसन्न कर ही लिया।

अनेक प्रकार के भोजनों से जो राज्य सत्कार करता है, तो यह भी निर्देशित होता है कि इस राज्य में अन्न की कमी नहीं है। इसलिए महर्षि प्रसन्न हुए कि यह राष्ट्र सुखी है। भुखमरी, अकाल अवर्षण आदि का शिकार नहीं है।

पुनि चरननि मेले सुत चारी।

श्री दशरथ जी ने (महर्षि के भोजन कर लेने के बाद) चारों पुत्रों को बुलाकर चरणों में प्रणाम कराया।

नियम तो यह है कि कोई सन्त, ब्राह्मण, पूज्य किसी के यहाँ जाता है, तो पहले वह स्वयं, फिर स्त्री पुत्रादिकों को बुला कर प्रणाम कराता है। उसके बाद भोजनादि की व्यवस्था होती है। यहाँ पहले स्वयं प्रणाम किया, आसन पर लाकर बैठाला। फिर अपने भाग्य की सराहना की और अनेक प्रकार से भोजन कराने के बाद "चरननि मेले सुत चारी", ऐसा क्यों? इसका एक अनुमान तो यह लगाया जा सकता है कि श्री दशरथ जी भोजन गृह में थे, भोजन कर रहे थे और चारों राजकुमार श्री दशरथ जी के साथ ही भोजन करते हैं। (भोजन करत बुलावत राजा) अत: चारों राजकुमार भी भोजन कर रहे थे। जब मुनि आगमन सुना, तो राजा मिलने चले गए और राजकुमारों को भोजन से न उठने का आदेश दे गए होंगे। इसलिए चारों कुमार भोजन में थे। इधर ऋषि से मिलकर सत्कार करके ऋषि के लिए भोजन मँगाया गया, तब तक चारों कुमार उठ तो चुके थे, परन्तु भोजन करते समय प्रणाम करने का निषेध है। प्रणाम के लिए निम्नलिखित परिस्थितियाँ वर्जित हैं –

कृतघ्नी तथा शास्त्र मर्याद नाशक।
सदा निन्द्य, नास्तिक पथों का प्रकाशक॥
अशुचि हो कि या शौच को जा रहा हो।
विमल वस्तु पूजार्थ कुछ ला रहा हो॥
उदर भर रहा हो, कि या सो रहा हो।
सभा श्राद्ध में हो, कि तन धो रहा हो॥
कहीं यज्ञ तर्पण हवन कर रहा हो।
किसी ध्यान में हो, भजन कर रहा हो॥
सदुपदेश का वाक्य इस पर बना है।
कि उनको नमस्कार करना मना है॥

इसलिए जब महर्षि भोजन कर चुके, तब "चरननि मेले सुत चारी" राजकुमारों को प्रणाम कराया।

दूसरा अनुमान यह भी हो सकता है कि विश्वामित्र जी पूर्व के क्षत्री हैं, वसिष्ठ से इनका विरोध है। वसिष्ठ के यजमान को यह सुखी नहीं देख

सकते। दशरथ जी के पूर्वज हरिश्चन्द्र, वसिष्ठ जी के ही यजमान थे, उनको इन्होंने (याचना करके) डोम के यहाँ बिकवा दिया। क्षत्री कभी विरोध का बदला लिए बिना छोड़ता नहीं।

बैरी पुनि क्षत्री पुनि राजा।
कीन्ह चहै छलबल निज काजा॥

अभी तक तो दशरथ जी के यहाँ ये कभी आए नहीं। आज वृद्धावस्था में सुख समाचार सुनकर आए हैं, कहीं कुछ अनिष्ट की भावना ही लेकर न आए हों? इसलिए दशरथ जी ने बड़ी बुद्धिमत्ता से काम लिया। पहले वह विश्वामित्र जी से मिले। आदर सत्कार किया, परन्तु विश्वामित्र जी न कुछ बोले, न आशीर्वाद ही दे सके। दशरथ जी को चिन्ता हुई कि इनका चुप रहना ठीक नहीं। तब इन्होंने सोचा कि ये ब्रह्मर्षि का पद प्राप्त कर चुके हैं, ब्राह्मण क्रोधी भी हो तो भी भोजन से संतुष्ट हो जाता है, इसलिए भोजन कराकर देखना चाहिए कि इनकी आकृति में कुछ अन्तर पड़ता है या नहीं। यदि भोजन करने के बाद ये प्रसन्न हुए, तब तो पुत्रों को बुलाकर प्रणाम कराऊँगा और यदि फिर भी इनकी आकृति ठीक न हुई, तो पुत्रों को इनके सामने होने ही न दूँगा। जो कुछ इनका रोष, आवेश होगा वह स्वयं ही सहन कर लूँगा। मुझे ये चाहे जो करें, परन्तु राम पर कोई आंच न आने पाए। किन्तु भोजन करवाने के बाद जब "मुनिबर हृदयँ हर्ष अति पावा" तब दशरथ जी समझ गये कि ये क्रोधित नहीं हैं। इसलिए किसी अनिष्ट की इच्छा से यहाँ नहीं आए हैं। अतः –

पुनि चरननि मेले सुत चारी।

पुत्रैः सह महातेजा ववंदे मुनिसत्तमम्।

(पद्मपुराण)

राम देखि मुनि देह बिसारी

श्रीराम का दर्शन करते ही विश्वामित्र जी देह की सुधि बुधि भूल गए, देह का भान ही नहीं रहा। राम दर्शन से सभी की ऐसी ही दशा होती है।

आगे श्री जनक जी ने जब देखा है तो –

मूरति मधुर मनोहर देखी।
भयउ विदेह विदेह बिसेखी॥

पुष्पवाटिका में श्री जनकनन्दिनी जी देख रही हैं तो –

अधिक सनेह देह भई भोरी।
सरद ससिहि जनु चितव चकोरी॥

सखियाँ देख रही हैं तो –

केहरि कटि पट पीत धर, सुखमा सील निधान।
देखि भानुकुल भूषनहि बिसरा सखिन्ह अपान॥

यह स्वरूप माधुरी है। जिसे देखते ही होश काबू में नहीं रहता है।

न पा सकते जिसे पाबन्द रह कर कुँदे हस्ती में।
सो हमने बेनिशाँ होकर तुझे ओ बेनिशाँ पाया॥
हवसेदीद मिटी है न मिटेगी हसरत।
देखने के लिए चाहे उन्हें जितना देखो॥
(हसरत मोहिनी)

लघु लोचन तिल बिन्दु में भर्यो सनेह अपार।
साँचि मसल काहू कही, तिल की ओट पहार॥

श्रीराम का रूप तो इतना मोहक है कि खरदूषण राक्षस भी देख कर कहने लगे –

जद्यपि भगिनी कीन्ह कुरूपा।

किन्तु –

वध लायक नहिं पुरुष अनूपा॥

तो फिर औरों की तो चर्चा ही क्या? नेत्रों की सार्थकता ही इसी में है कि राम के दर्शन कर लिए जाएँ।

कान वो कान है जिसमें हो कहानी तेरी,
चाह वह चाह है जिसमें कि तू आबाद रहे।
आँख वह आँख है जिस आँख ने देखा हो तुझे,
दिल वही दिल है कि जिस दिल में तेरी याद रहे॥

विश्वामित्र जी ने राम के दर्शन किए और करते ही "देह बिसारी", समाधि द्वारा राघव की रूपमाधुरी का पूजन करने लगे।

मैं एक शर्त पर जाहिद वो बुत दिखाता हूँ।
कहीं न पूजने लगना उसे ख़ुदा के लिये॥

तात्पर्य यह है कि राम को देखते ही हृदय द्रवीभूत हो गया।

दर्शने स्पर्शने वापि, श्रवणे भाषणे तथा।
यत्र द्रवत्यन्तरङ्ग सप्रीतिरिति कथ्यते॥

अब अन्तरंग द्रवीभूत हो गया, तो फिर होश कहाँ? इसी से गोस्वामी जी को इतने ही में सन्तोष न हुआ, तो पुनः दूसरी चौपाई में राम दर्शन की दशा कही कि –

भए मगन देखत मुख शोभा।
जनु चकोर पूरन ससि लोभा॥

चकोर-चन्द्रमा की प्रीति एकांगी मानी गई है। चकोर तो चन्द्रमा को देखता है, परन्तु चन्द्रमा चकोर को नहीं देखता। क्योंकि चन्द्रमा चकोर

पर मुग्ध नहीं होता। श्री राघवेन्द्र नतमस्तक ऋषि के सामने उपस्थित हैं, अतः श्रीराम तो मुनि को एकटक नहीं देख रहे हैं, परन्तु विश्वामित्र जी तो राघवेन्द्र को एकटक ही देख रहे हैं। इसलिए किसी कवि ने लिखा है कि – चकोर अंगारे क्यों खाता है?

चिनगी चुगत चकोर यों, भस्म होय यह अंग।
लावैं शिव निज भाल पै, मिलै पीव शशि संग॥

कितनी मधुर एवं सुदृढ़ कल्पना है माधुर्योपासना की।

किन्हीं-किन्हीं महानुभावों ने यहाँ – "राम देखि मुनि बिरति बिसारी" पाठ माना है। और यह भाव दिया है कि राघवेन्द्र को जब तक ऋषिराज ने नहीं देखा था, तब तक इन्हें अपनी तपस्या, त्याग और विराग का बहुत गर्व था। और इसी धारणा को लेकर आए भी थे कि मैं विरक्त हूँ और राजा दशरथ ग्रहस्थ हैं, साधु के नाते मेरा बड़ा दर्जा है, दशरथ जी को मेरी बात अवश्य माननी होगी। तभी तो यह अनुमान लेकर चले थे कि –

करि बिनती आनौं दोउ भाई॥

परन्तु जब राघवेन्द्र के दर्शन किये तो वह वैराग्य भूल गए। सोचा कि जिस ब्रह्म प्राप्ति के लिए मैंने इतना बड़ा परिश्रम किया, वह मुझ विरक्त को न मिल कर इन गृहस्थ की गोद और इनके आँगन में खेलने आ गया। धन्य है यह गृहस्थाश्रम कि मुझसा विरक्त अभी आज इनके द्वार पर इस ब्रह्म की भीख माँगने आया है। ठीक भी है, यदि विरक्ति का अहंकार बना ही रहता तो राम इन्हें मिलते भी नहीं। क्योंकि अहंकार तो श्रीराम को पसन्द है ही नहीं, इसलिए राम को प्राप्त करना है, तो विराग का अहंकार भूल ही जाना चाहिए। अध्यात्म पक्ष में यह निश्चय है कि विचार को जब तक देहाध्यास रहता है तब तक राम दर्शन नहीं होते। जब देह का भान भूल जाता है तो रामदर्शन का अधिकारी होता है। अतः उत्तम विचार की कोटि तो यही है कि राम को देखते ही देह का अनुसन्धान न रह जाय।

तब मन हरषि बचन कह राऊ।
कहि न सकौं निज पुण्य प्रभाऊ॥

विश्वामित्र जी जब से आए हैं तब से अभी तक (दण्डवत्) भी ले चुके, स्वागत सत्कार भी करा चुके, भोजन भी कर चुके, श्रीराम के दर्शन भी कर चुके परन्तु एक अक्षर भी मुख से बोले नहीं। और श्रीराम को एकटक दृष्टि से जब इतनी देर तक देखते ही रह गए, तो दशरथ जी को पुनः शंका हुई कि क्या जो मैंने कल्पना की थी, वह सत्य है? क्या विश्वामित्र जी मेरे प्रति उचित भावना लेकर नहीं आये हैं? क्या मेरे यहाँ राम जैसे पुत्र का जन्म होना, इन्हें असह्य हो गया है? आदि आदि अनेक विचार धारायें दशरथ जी के हृदय में हिलोरें मारने लगीं। अन्ततोगत्वा उन्होंने यह निर्णय किया कि इनका ध्यान राम की ओर से हटा कर किसी दूसरी ओर खींचना चाहिए। अतः दशरथ जी ने बहुत ही प्रसन्न मन से वार्ता का इस प्रकार प्रसंग उठाया कि "कहि न सकौं निज पुण्य प्रभाऊ" – मैं अपने पुण्य प्रभाव का वर्णन नहीं कर सकता। यद्यपि यह बात (राघवेन्द्र को देखने पर) विश्वामित्र जी को कहनी चाहिए थी, कि राजन् तुम्हारे पुण्य प्रभाव का वर्णन नहीं किया जा सकता। जिसकी कुण्डली में पुत्र जन्म लिखा ही न हो, उसे श्रीराम जैसा पुत्र प्राप्त हो, यह वर्णनातीत है। किन्तु विश्वामित्र जी तो "भए मगन देखत मुख शोभा" – वह तो मुख शोभा में होशोहवास ही खो बैठे, कहते क्यों? इसलिए दशरथ जी ने अपने आप ही द्वि अर्थीय प्रशंसात्मक शब्द कहा कि आप मेरे यहाँ पधारे हैं इसलिए "कहि न सकौं निज पुण्य प्रभाऊ" और यह श्री राघवेन्द्र, जिन्हें आप देखकर विभोर हो गये हैं, वह पुत्र रूप से मेरे यहाँ जन्मे हैं इसके लिये भी "कहि न सकौं निज पुण्य प्रभाऊ।" वह दोनों ही ओर निर्देशक शब्द, दशरथ जी ने कहा। फिर भी जब विश्वामित्र जी कुछ नहीं बोले, तो दशरथ जी घबरा गए और कह उठे कि –

केहि कारन आगमन तुम्हारा।

किसी भी आए हुए अतिथि से यह पूछने का क्रम नहीं है कि "कहिए आप किस लिए आए हैं? मैं आपके कार्य में विलम्ब नहीं

लगाऊँगा।" यह तो उसी से कहा जाता है कि जिसके प्रति यह ज्ञात हो, कि यह किसी कार्यवश कुछ हमसे लेने ही आया है। दशरथ जी को अभी तो यह ज्ञात नहीं है कि विश्वामित्र जी कुछ याचना ही करने आये हैं, उनके यहाँ तो (राम जन्म पर जिस प्रकार "देखि महोत्सव सुर मुनि नागा" आदि सभी आए थे, उसी प्रकार आज) महर्षि विश्वामित्र जी श्रीराम दर्शन के लिए अथवा अचानक अतिथि रूप में आ गए हैं। उनसे यह प्रश्न करना कि "कहिए आप किस लिए आये?" उचित तो नहीं जान पड़ता। कहीं अन्य स्थल पर भी इस प्रकार का आगन्तुक सन्तों के प्रति व्यवहार नहीं मिलता। श्री भगवान् क्षीरशायी के पास जब महर्षि नारद गए तो –

हरषि मिले उठि कृपा निकेता।
बैठे आसन रिषिहि समेता॥
बोले बिहँसि चराचर राया।
बहुते दिनन्ह कीन्ह मुनि दाया॥

शील निधि राजा के यहाँ –

सुनि सब चरित भूप गृह आए।
करि पूजा नृप मुनि बैठाए॥

उसके बाद –

सुता सुलच्छन कहि नृप पाहीं।
नारद चलें सोच मन माही॥

शीलनिधि ने यह नहीं कहा कि –

केहि कारन आगमन तुम्हारा॥

महर्षि नारद जी को पता लगा कि "शैलराज" हिमालय के गृह में उमा का जन्म हुआ है। आप वहाँ पहुँच गए –

शैलराज बड़ आदर कीन्हा।
पद पखारि वर आसन दीन्हा॥

नारि सहित मुनि पद सिर नावा।
चरन ललित सब भवन सिंचावा॥
निज सौभाग्य बहुत गिरि बरना।
सुता बोलि मेली मुनि चरना॥

परन्तु शैलराज ने यह नहीं कहा कि –

केहि कारन आगमन तुम्हारा॥

और कहाँ तक कहें, इन्हीं विश्वामित्र जी को जब श्री जनकराज मिलते हैं तो –

कीन्ह प्रणाम चरण धरि माथा।
दीन्ह असीस मुदित मुनि नाथा॥

कुसल प्रश्न कहि बारहिं बारा।
विश्वामित्र नृपहिं बैठारा॥

मुनिहिं प्रसंसि नाई पद सीसू।
चलेउ लेवाइ नगर अवनीसू॥

परन्तु जनक जी ने यह नहीं कहा कि –

केहि कारन आगमन तुम्हारा।

सन्तों का आगमन तो बड़े भाग्य से होता है, चाहिए यह था कि श्री विश्वामित्र जी के निवास का प्रबन्ध कराया जाता, उनका दो चार दिन आतिथ्य होता, फिर जब स्वयम् ही अपनी आवश्यकता प्रकट करते तो जैसा उचित समझते वैसा उत्तर देते। परन्तु अभी आए हैं, भोजन किया है, श्रीराम को देखा ही था कि प्रश्न कर दिया गया – "आप किस लिए आए हैं?" क्या यह विश्वामित्र जैसे सन्त अतिथि के प्रति दशरथ जी को इतनी त्वरा से कह देना सुसंगत था? विचार करने पर यही अनुमान लगता है कि जब मुनिराज इतनी देर तक मौन रहे, कुछ बोले ही नहीं,

आशीर्वाद तक नहीं दिया, श्रीराम पर एकटक दृष्टि गड़ा दी, तो दशरथ जी का धैर्य छूट गया। उन्हें अब उचित अनुचित का कोई ध्यान न रह गया। जिस प्रकार राम को देखकर विश्वामित्र जी को देह की सुध भूल गई, उसी प्रकार राम के स्नेहावेश में दशरथ जी व्यवहारादि भूल गए। और घबराकर बोल उठे कि भगवन् आप किसी कार्यवश आए हो, तो कहिए वह कौन सा कार्य है? मैं उसे पूर्ण करने में देर नहीं लगाऊँगा। और यदि केवल मिलने ही आए हैं तो इतना समय आपके पास भी नहीं होगा कि गृहस्थ के यहाँ अधिक ठहर सकें। और मैं भी आपको विशेष ठहरने का हठ नहीं करूँगा। इसी आशय को सुस्पष्ट करने के लिए दशरथ जी ने कहा कि –

केहि कारन आगमन तुम्हारा।
कहहु सो करत न लाउब बारा॥

एक बात और भी विचारणीय है कि श्रीदशरथ जी ने "कारन" कहा, "कारज" नहीं कहा। कहना चाहिए केहि "कारज' आगमन तुम्हारा" – किस कार्य से आपका आगमन हुआ? परन्तु शब्द बहुत सांकेतिक है – आप कुछ बोल नहीं रहे है, चुपचाप मेरा आतिथ्य ग्रहण कर रहे हैं, इससे यह निश्चित् है कि आपका कोई कार्य मुझसे हो या न हो परन्तु मेरे यहाँ आने में कोई कारण अवश्य है।

असुर समूह सतावहि मोही।
मैं जाचन आयउँ नृप तोहीं॥

महर्षि विश्वामित्र जी अब तक बोले क्यों नहीं? जब दशरथ जी ने सुस्पष्ट ही पूछ लेने का सत्याग्रह कर लिया तभी बोले।

इसका एक तो यह कारण समझ में आता है कि कभी कभी जिससे याचना करनी होती है, उसके विशेष आदर सत्कार से याचक इतना दब जाता है कि फिर कुछ बोलने का साहस नहीं होता। जिस प्रकार श्री सुदामा जी महाराज गए तो थे याचना ही करने, परन्तु श्री द्वारिकाधीश के सत्कार से इतने दब गए कि कोरा टीका लगवा कर ही उठ खड़े हुए।

और श्री भगवान् को उनके घर पर ही सब कुछ पहुँचा देना पड़ा, परन्तु सुदामा याचना न कर सके। दूसरा कारण यह हो सकता है कि क्षत्री हैं, राजा हैं, विरक्त होकर भी कुछ न कुछ देते ही चले आए हैं, किसी से कुछ माँगा कभी नहीं है। जीवन में (विरक्त होकर) एक बार हरिश्चन्द्र से माँगा भी है, तो बड़ी कठोरता से। मृदुता से तो इन्होंने कभी याचना सीखी ही नहीं। सर्व प्रथम (जब राजा थे तब) वसिष्ठ जी से नन्दनी माँगी थी, तो भी बड़ी ही कठिन समस्या उठ खड़ी हुई थी। और परिणाम यह हुआ कि जीवन भर का विरोध हो गया, बल्कि जीवन बदल ही देना पड़ा। इसलिए स्वभाव में माँगना है ही नहीं। यदि है भी तो बड़ी ही कठोरता और बर्बरता से है। इसलिए अभी तक यह सोचते ही रहे कि यह दान उद्दण्डता पूर्वक माँगने का नहीं है। यह तो बड़ी ही शान्ति एवं मृदुता से माँगने का दान है। क्योंकि दाता भी बहुत मधुर है, और दान (श्रीराम) भी बहुत मधुर हैं। मुझे मृदुता का अभ्यास नहीं है, माँगू तो कैसे माँगू? यह सोच कर विश्वामित्र जी अभी तक नहीं बोले थे, परन्तु जब दशरथ जी ने कठिनता धारण कर ली, और कह दिया कि –

केहि कारन आगमन तुम्हारा।
कहहु सो करत न लाउब बारा॥

तो आपने भी दो टूक उत्तर दिया कि –

असुर समूह सतावहिं मोहीं।
मैं जाचन आयउँ नृप तोहीं॥

तीसरा कारण यह भी हो सकता है, कि पहले तो श्रीराम को केवल भू–भार–हर्त्ता भगवान् ही माने हुए थे – "प्रभु अवतरेउ हरन महि भारा", इसलिए माँगने चले आये। भला भू–भार–हर्त्ता भगवान् को देने में किसी को क्या संकोच होगा? और भगवान् को कोई भला देगा क्या? वह तो मेरी प्रार्थना सुनते ही चल देंगे। इसीलिये चलने के समय यह न सोचा कि श्री दशरथ जी से माँगना पड़ेगा, केवल यही विचार आया कि "एहि मिस देखौं प्रभु पद जाई।"

"करि विनती" – माँगहुँ न कहकर कहा कि "आनहुँ दोउ भाई" – साथ ही यह भी सोचा कि मत्स्य, कच्छप, वामन, वाराह अवतार जैसे भगवान के होते हैं, वैसे ही यह भी अवतार होता। तो फिर दशरथ जी को देने में क्या कठिनाई होगी? अवतार तो होते ही हैं लोक कल्याण के लिये। जैसे ही कहूँगा वैसे ही चल देंगे। परन्तु श्री परम सौन्दर्य समुद्र सरस सुमधुर राघवेन्द्र के मुखारबिन्द का दर्शन किया तो –

राम देखि मुनि देह बिसारी॥
भए मगन देखत मुख शोभा।
जनु चकोर पूरन शशि लोभा॥

भला इस मधुर मूर्ति को दशरथ से माँगूँगा, तो मुझे लोग मूर्ख न कहेंगे? यह सरस मूर्ति यज्ञ रक्षा तथा राक्षस वध के लिए माँगने आया हूँ? भला क्या कहेंगे दशरथ और यह सभा के लोग? और भला दशरथ इन प्राणों से भी अधिक अपने पुत्र को दे भी सकेंगे? कदापि नहीं। इसलिए विश्वामित्र जी मन ही मन मौन रहकर अनेक कल्पनाओं में उलझ गए, न बोल सके। परन्तु श्री दशरथ जी की आकुलता ने जैसे ही यह शब्द निकाले कि "कहहु सो करत न लाउब बारा", कि विश्वामित्र जी को आशा हो गई और बोल उठे कि "मैं याचन आयउँ नृप तोहीं।"

चतुर्थ कारण यह भी हो सकता है कि विश्वामित्र जी समझते थे कि यह दान साधारण तथा माँगने से मिलेगा नहीं। इसलिए पधारते ही मौन हो गए कि जब तक दाता देने की प्रतिज्ञा न कर ले, तब तक याचना न की जाय। और यदि दाता वचन दे दे कि "जो इच्छा हो वह माँग लो! मैं देने में कदापि विलम्ब न करूँगा", तो फिर वह अपने वचन से फिर नहीं सकता। क्योंकि –

रघुकुल रीति सदा चलि आई।
प्राण जाहिं बरु बचन न जाई॥

इसलिए दशरथ जी की, किसी भी सेवा सत्कार में कुछ बोले ही नहीं। जब श्री दशरथ जी ने ही बड़ी उदारता, उत्सुकता और दृढ़ता से

कहा कि –

कहहु सो करत न लाउब बारा।

तो हमारे याचक महर्षि तत्काल बोल उठे कि –

मैं जाचन आयउँ नृप तोही।

फिर भी एकाएक यही नहीं कह दिया कि – "अनुज समेत देहु रघुनाथा" अपितु भूमिका प्रारम्भ की–

असुर समूह सतावहिं मोही।

कोई महाबलशाली व्यक्ति, जब दूसरे बलशाली व्यक्ति से यह कहता है कि मुझे लोग काफी सता रहे हैं, तो समझिए कि उस याचना करने वाले व्यक्ति ने अपने ऊपर अहसान करने के लिए दानी को विवश कर दिया। विश्वामित्र जी ने तीन कारण देकर दशरथ जी को विवश किया। एक तो असुर समूह से मैं सताया जा रहा हूँ, यह दैन्य की पराकाष्ठा है। दूसरी – मैं स्वयम् समर्थ होते हुए भी, आपसे भीख माँगने आया हूँ, पारस्परिक शील की पराकाष्ठा है। जैसे कि श्री भगवान् ने शंकर जी से कहा कि –

जाइ बिबाहहु सैलजहि, यह मोहि मागें देहु॥

तीसरे – मैं भी कभी राजा था परन्तु अब मैं भिखारी हूँ और नृप (हे राजन्) तुमसे मैं भीख माँगने आया हूँ। यह तीनों दबाव डाल कर अब याचना वह कर रहे हैं कि राजा नाहीं न कर सके। अतः बोल उठे कि –

अनुज समेत देहु रघुनाथा।

श्री लक्ष्मण के साथ रघुनाथ को दीजिए। अनुज कहने से लक्ष्मण ही कैसे समझे जायेंगे? बात यह है कि श्री राम के अनुज लक्ष्मण ही प्रसिद्ध थे। और भरत जी के अनुज शत्रुघ्न कहे जाते थे। यथा –

पावक शर सुबाहु पुनि मारा।

अनुज निसाचर कटक संहारा॥

राम अनुज मन की गति जानी।
भक्त बछलता हियँ हुलसानी॥

करत बतकही अनुज सन, मन सिय रूप लुभान।

राम कहा अनुजहि समुझाई।
राज देहु सुग्रीवहिं जाई॥

तब अनुजहिं समुझावा, रघुपति करुणा सीव।
भय दिखाइ ले आवहु, तात सखा सुग्रीव॥

इसीलिए लक्ष्मण जी स्वयं भी यह घोषणा कर रहे हैं कि –

छत्रि जाति रघुकुल जनमु, राम अनुज जगु जान।
लातहुँ मारें चढ़ति सिर, नीच को धूरि समान॥

और भरत जी के अनुज शत्रुघ्न हैं। यथा –

बन सिय राम समुझि मन माहीं।
सानुज भरत पयादेहि जाहीं॥

सानुज सखा समेत मगन मन।
बिसरे हरष सोक सुख दुख गन॥

पुनि प्रभु हरषि सत्रुहन, भेंटे हृदयँ लगाइ।
लछिमन भरत मिले तब, परम प्रेम दोउ भाइ॥

भरतानुज लछिमन पुनि भेंटे।
दुसह बिरह संभव दुख मेटे॥

श्री विश्वामित्र जी ने सोचा कि "बन्धु समेत देहु रघुनाथा" कहूँ तो श्री भरत या शत्रुघ्न की ओर ध्यान न जाय। इसलिए "अनुज समेत देहु

रघुनाथा" – रघुनाथ के अनुज लक्ष्मण ही हैं, अतः लक्ष्मण जी के साथ श्रीराम को दीजिए।

अध्यात्मवाद में – विचार विश्वामित्र, दशाङ्गधारी **जीव** श्री दशरथ से कह रहा है कि "मैं तुझसे नृप याचन आयउँ" (नृणन् पालयतीति नृपः) –जो नरों का पालन करने वाला ज्ञान स्वरूप पुरुषार्थ श्रीराम हैं, वह मैं तुझसे माँग रहा हूँ। तू कर्म कुछ भी करे, परन्तु ज्ञान स्वरूप पुरुषार्थ मुझे दे दे और वह भी अनुज समेत (वैराग्य के साथ) दे। क्योंकि जिस ज्ञान पुरुषार्थ में वैराग्य नहीं होता, वह ज्ञान पुरुषार्थ निज स्वार्थ के लिए होता है, परोपकार के लिए नहीं। इसलिए **विराग** के साथ **ज्ञान** पुरुषार्थ की याचना कर रहा है।

"ज्ञान विराग सकल गुन अयना" – से **ज्ञान** का अनुज **विराग** सिद्ध होता है। अनुज शब्द की व्युत्पत्ति है – अनु (पश्चात्) जायतीति अनुजः। इससे सिद्ध होता है कि ज्ञान पहले उत्पन्न होता है, उसके बाद विराग उत्पन्न होता है। परन्तु यहाँ विचार का कहना है कि "अनुज समेत देहु रघुनाथा", अर्थात् विराग के साथ ज्ञान को दें। अर्थात् विराग प्रथम सिद्ध होता है, और ज्ञान बाद को? यह संगति कैसी? इसका आशय यह जान पड़ता है कि ज्ञान होने पर भी कहीं कहीं देखा जाता है कि विराग नहीं होता। "कहिय सुनिय समुझिय समुझाइय दशा हृदय नहीं आवे" या "विद्या बिनु बिबेक उपजाए" आदि – तो ज्ञान से विचार को सन्तोष नहीं होता। इसलिए विचार का कहना है कि ज्ञान दीजिए, किन्तु विराग सहित दीजिए। तभी निशिचर बध से मैं सनाथ हो सकूँगा। विलास और लोभ आदि मारीच सुबाहु निशिचर ज्ञान से नष्ट हो जायेंगे, परन्तु उनके साथी मद, मोह, अहंकार, मात्सर्यादि तो विराग से ही समाप्त होंगे। नहीं तो विलास और लोभ के नाश कर देने का अहंकार तो और भी उग्र हो सकता है, वह अहंकार समूह तो विराग से ही नष्ट होगा। तभी तो "तृन सम सिद्धि तीनि गुन त्यागी" हो सकेगा, और उसी समय –

ज्ञान मान जहँ एकउ नाहीं।
देख ब्रह्म समान सब माहीं॥

का शुद्धाभ्यासी बनना सहज होगा। अतः –

अनुज समेत देहु रघुनाथा।
निसिचर बध मैं होब सनाथा॥

"मैं याचन आयउँ नृप तोही" से कहीं यह न समझ लें कि यह तो दो पुत्र माँगे ही लिए जा रहे हैं, जैसे गुरु वसिष्ठ से नन्दिनी माँगे ही लिए जा रहे थे। इसलिए सुस्पष्ट किया कि निशिचर बध हो जाने पर मैं सनाथ हो जाऊँगा। केवल इतने ही कार्य के लिये माँग रहा हूँ।

इतना सुनते ही महाराजा दशरथ की आकृति कुछ उदास हो गई। यह देखते ही याचक ने देखा कि दान का नाम प्रकट करने में कुछ शीघ्रता हो गई। दानी को यह दान देना तो क्या, इस दान की बात सुनना भी असह्य है। अतः उसी क्षण महर्षि ने अपनी भूमिका सम्हाल कर, दानी को पुनः उत्साहित करने का प्रयत्न किया।

देहु भूप मन हरषित, तजहु मोह अज्ञान।
धर्म सुजस प्रभु तुम्ह कौं, इन्ह कहँ अति कल्यान॥

याचक ने दान देने में दानी को असमर्थ पाते हुए भी यह नहीं कहा कि आप उदास क्यों हो गए, अपितु कह रहे हैं कि आप दान देंगे तो अवश्य, परन्तु कदाचित यह दान देने में आपको उदासीनता है, इसलिए मैं चाहता हूँ कि आप प्रसन्न होकर दें, उदास होकर न दें।

निसिचर बध मैं होब सनाथा॥

जिसका कोई नाथ (स्वामी मालिक) नहीं होता, उसी को लोग सताते हैं। जिसका कोई धनी स्वामी होता है उसे कोई भी छेड़ नहीं सकता। असुर मुझे इसीलिए सता रहे हैं कि मैं स्वयं अहंकारवश सबका नाथ (स्वामी) बना हुआ हूँ, मेरा कोई नाथ नहीं है। और जब तक निशाचरों का कोई नाश न कर दे तब तक लोग मुझे अनाथ ही समझेंगे। इसलिए आप इन्हें (ज्ञान विराग को) मुझे दे दें, जिससे असुर समूह समाप्त हो जाय और लोग मुझे भी सनाथ समझने लगें, अनाथ समझने का भ्रम

दूर हो जाय। विनय पत्रिका में गोस्वामी जी ने लिखा है –

यह हृदय भवन प्रभु तोरा।
तहँ बसें आइ बहु चोरा॥

कह तुलसिदास सुनु रामा।
लूटहिं तस्कर तव धामा॥

अर्थात् हृदयधाम के स्वामी आप हैं, फिर भी चोर लोग आपके धाम को लूट रहे हैं और आप चुप हैं? भला यह कैसा प्रबन्ध है आपका? आपका ही घर और आप समर्थ स्वामी उस घर के मौजूद हैं। फिर भी यह लूट मच रही है, क्या इससे यह साबित नहीं होता कि यह घर अनाथ है, इसका कोई नाथ नहीं है? क्या यह बदनामी तुम्हें पसन्द है, कितना सौन्दर्यपूर्ण उपालम्भ है?

यही आशय यहाँ विश्वामित्र जी का भी है कि जहाँ सामर्थ्यवान पराक्रमी उदार राजा महाराज होते हैं, उनकी छत्रछाया में रहनेवाली समस्त प्रजा तथा साधु सन्त ऋषि महर्षि सभी सनाथ होते हैं, अनाथ नहीं। लेकिन मैं तुम्हारे राज्य में अनाथ की तरह लुटा जा रहा हूँ, यह तुम पर महान् कलंक है कि महाराज दशरथ के जीवित रहते हुए भी उनके राज्य में एक महर्षि लुट गया। यदि इस कलंक से बचना हो तो –

अनुज समेत देहु रघुनाथा।
निसिचर बध मैं होब सनाथा॥

इतना सुनते ही –

देहु भूप मन हर्षित, तजहु मोह अज्ञान।
धर्म सुजस प्रभु तुम्ह कौं, इन्ह कहँ अति कल्यान॥

प्रसन्न होकर दो।

याचक की याचना सुनकर यदि "हृदय कम्प मुख दुति कुम्हलानी" की दशा दानी में आ जाय, तो वह याचक नहीं डाकू कहा जायगा, दान

नहीं डाका होगा।

किसी प्रकार का दबाव डालकर या दानी का हृदय दुखाकर जो दान लिया जाय, उसे रक्त भिक्षा समझना चाहिये। उसका नाम दान नहीं हो सकता, वह डाके का ही एक रूप है।

जब किसी देश का सर्वनाश होना होता है तब नृशंस ऐसे याचक, और भीरू ऐसे दानी उस देश में उत्पन्न होते हैं। तीर्थों में पाप मुक्त करने का निमित्त लेकर यात्री की जेब खाली करा लेना। श्रद्धा के बाद गया धाम आदि में यात्रियों के हाथ फूलों की माला से बाँधकर (जब तक यात्री माँगी हुई रकम दे न दे, तब तक) सुफल न बोलने का दुराग्रह करना। किसी भी कार्य में (चाहे वह महाधार्मिक ही क्यों न हो) दानी से उसकी सामर्थ्य एवम् इच्छा विरुद्ध रकम माँग लेना या चिट्ठे पर चढ़वा लेना, मठ मन्दिर आश्रम बनवाने के लिए लोगों को सत्संग पूजा, पाठ और प्रचार के चक्कर में डालकर मनमाना लूट लेना (जबकि वही मठ मन्दिर और आश्रम में अनेक प्रकार के दुर्व्यवहार के केन्द्र बन जाते हों) क्या यह सब डाका नहीं है? फिर भी दया भीरु तथा स्वर्ग प्राप्ति लोलुप मनुष्य प्रसन्न या अप्रसन्न मन से ऐसे दान देते ही रहता है, और उस दान का सर्वदा सुपरिणाम नहीं दुष्परिणाम ही निकलता है। जिससे राष्ट्र, देश प्रान्त तथा जन समूह आकुल व्याकुल और सन्तप्त होकर दरिद्रता तथा विनाश की ओर अग्रसर होने लगता है। महर्षि विश्वामित्र जी ने भी राजा हरिश्चन्द्र से ऐसा ही दान लिया था। उस राज्य सम्पत्ति से रानी, पुत्र, मन्त्री और प्रजा सभी का सम्बन्ध था और सभी यह समझ कर त्राहि त्राहि कर रहे थे कि हमारा राजा ठगा गया। वह दान विश्वामित्र जी ने ले तो लिया, परन्तु हरिश्चन्द्र का राज्य विपत्ति में पड़ गया और राजा रानी तथा पुत्र भी महाविपत्ति में निमग्न हो गए। और विश्वामित्र का अन्तःकरण भी अभी तक अशान्त ही रहा, शान्ति प्राप्त नहीं कर सका। इस बार (उस कुदान का प्रायश्चित्त करने के लिए पुनः पधारे हैं परन्तु पहले की भाँति) डाका डालने के लिए नहीं अपितु – "मैं याचन आयउँ नृप तोहीं" – शुद्ध याचना करने के लिए, अत: "देउ भूप मन हर्षित" – प्रसन्न होकर दो, जिससे याचक, दाता, और दान इन तीनों का ही कल्याण हो, अकल्याण

न होने पाए। महाराजा दशरथ ने तो अभी प्रसन्नता या अप्रसन्नता का कुछ आशय प्रकट किया नहीं, फिर महर्षि अपनी ही ओर से क्यों कहने लगे कि – "देहु भूप मन हर्षित" आदि –

आकारै रिङ्गितैर्गत्या, चेष्टया भाषणेन च।
नेत्र वक्त्र विकारेण लक्ष्यतेन्तर्गतम्मनः॥

आकार से, इशारे से, गति से, आकृति, भाषण से, आँख और मुख के विकारों से – अन्तर्गत मन के विकारों से अन्तर्गत मन का भाव प्रगट हो जाता है।

राजा की भी, महर्षि की याचना सुनकर यही दशा हो गई। जिसका वर्णन गोस्वामी जी ने आगे किया है कि –

सुनि राजा अति अप्रिय बानी।
हृदय कम्प मुख दुति कुमुलानी॥

यह दशा देखते ही महर्षि बोल उठे कि – "देहु भूप मन हर्षित।"

सुना तो यह जाता है कि जो कहीं माँगने जाता है, उसका मुख मलीन हो जाता है, उसके हृदय में धड़कन होने लगती है, स्वाभिमान की क्षति से वह मन ही मन ग्लानि का अनुभव करने लगता है।

स्वार्थं धनानि धनिकात् प्रतिगृह्णतोय-
दास्यं भजेन्मलिनतां किमिदं विचित्रम्।
गृह्णन् परार्थमपि वारिनिधेः पयोऽपि-
मेघोऽयमेतिसकलोऽपिचकालिमानाम् ॥

जो याचक किसी धनिक से अपने लिए धन माँगे, और उसके मुख पर कालिमा छाजाए तो क्या आश्चर्य है, जब कि समुद्र से (लोकोपकार के लिए) जल लेने वाले मेघों का समस्त शरीर ही काला पड़ जाता है। हिन्दी में भी एक बहुत प्रसिद्ध किंवदन्ति है कि –

तुलसी बे नर मर चुके जो कहुँ माँगन जाहिं।

उन ते पहिले वे मरे जिन मुख निकसत नाहिं॥

...आदि आदि

तो फिर माँगने वाले तो, दानी के मुख से "नाहीं" निकलने पर भी "हृदय हर्ष माना मुनि ज्ञानी" प्रसन्न हैं। परन्तु दाता की "हृदय कम्प मुख दुति कुमुलानी" क्यूँ? इसके कई कारण हैं। एक तो यह हैं कि लौकिक वस्तुओं की याचना करने में ही याचक की मलीनता होती है, पारलौकिक याचना में तो याचक प्रसन्न ही रहता है।

दूसरे यह कि विश्वामित्र जी तो "एहूँ मिस देखौं प्रभु पद जाई" – श्री राघव के दर्शनार्थ ही आए थे, वह उनका कार्य तो हो ही गया, अब राजा की इच्छा – दें या न दें। दे देंगे, तो धर्म सुयस के भागी होंगे, और न देंगे, तो कोई बात नहीं मेरा कोई खास कार्य तो है ही नहीं, यज्ञ तो अभी तक होता ही आया है, आगे भी होगा ही। वह तो केवल बहाना ही मात्र है। इसलिए याचक को इस दान के मिलने से कोई लाभ हानि नहीं है, तो फिर क्यूँ मलीनता हो? और दशरथ जी तो इस दान से महाहानि समझ रहे हैं। इसलिए उनकी मलीनता देखकर याचक को शंका हुई कि यह दान लेने में कहीं आगे चलकर आपत्तियाँ न झेलनी पड़ें? कदाचित् दाता की उदासीनता का ही यह परिणाम हो सकता है कि परशुराम जी का कोप ताण्डव देखना पड़ा। अतः महर्षि ने कहा कि –

देहु भूप मन हरषित, तजहु मोह अज्ञान।

आकृति की मलीनता से ही कैसे समझ लिया कि दशरथ जी मोह और अज्ञान के वशीभूत हैं? दशरथ जी जब इनकार करते, तब "तजहु मोह अज्ञान" कहना था? बात यह है कि श्रीराम तो सभी के प्राणप्रिय हैं –

कोसलपुर वासी नर नारि वृद्ध अरु बाल।
प्रानहु ते प्रिय लागत सब कहँ राम कृपाल॥

इसलिए राम पर तो सब का समानाधिकार है, जैसे सूर्य का पूर्व

दिशा में ही उदय होता है, परन्तु उनकी किरणों से आलोकित होने का अधिकार तो सभी दिशाओं को है। इसी प्रकार राम तो सब को प्रकाश देने के लिए अवतरित हुए हैं। उन्हें देने की बात सुनकर मुख म्लान करने का तात्पर्य यह है कि इन्हें आप केवल अपने यहाँ जन्म लेने के कारण अपना समझते हैं, औरों का नहीं – यह मोह है। और राम जो सम्पूर्ण विश्व के नायक एवं विधायक हैं, उसे विश्वामित्र माँग रहे हैं, और "मुझे देना पड़ेगा" ऐसा विचार करना अज्ञान है। क्योंकि जिसकी पृथ्वी, तप, तेज, वायु, आकाशादि अनेक विभूतियाँ याचना से नहीं, अपितु अपने आप ही आवश्यकतानुसार सब प्राणियों के पास पहुंच जाती हैं, और किसी के रोकने से नहीं रुक सकती, तो फिर वह स्वयं भला तुम्हारे रोक लेने से रुक सकता है? उसे तो संसार के प्राणियों की आवश्यकतानुसार सब के पास जाना ही पड़ेगा। अतः सर्वगामी, सर्वोपयोगी, सर्वान्तर्यामी पर तुम केवल एकदेशीय, एकांगी, एक अनन्याधिकार की ही कल्पना कर रहे हो, यह अज्ञान है। यह दोनों लक्षण मुखाकृति मलीन होने से ही प्रदर्शित हो गये। इसलिए "तजहु मोह अज्ञान" पहले ही कहा, बाद में दशरथ जी के इन्कार के कारणों को सुनकर "तजहु मोह अज्ञान" न कहकर "हृदय हर्ष माना मुनि ज्ञानी" – प्रसन्न हो गए।

धर्म सुजस प्रभु तुम्ह कौं

मोह त्यागने से धर्म होगा –

मोह सकल व्याधिन कर मूला।
तेहि ते पुनि उपजै बहु शूला॥

करै मोह बस द्रोह परावा।

मोह न अन्ध कीन्ह केहि केही।

धर्म करने में मोह ही बाधक होता है। मोह त्यागने से धर्म का पालन होता है। जो हमारा है वह कैसे दें दें? इस मोह का त्याग करके परोपकार करिये तो धर्म होगा।

अष्टादश पुराणानां व्यासस्य वचन द्वयम् ।
परोपकारं पुण्याय पापाय पर पीडनम् ॥

इसलिए मोह त्याग करके परोपकार कीजिये तो धर्म होगा और मनुष्य होकर मनुष्य के साथ उपकार न करे, यही अज्ञान है। क्योंकि यह सृष्टि तो – "परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ" (गीता) – पारस्परिक एक दूसरे के लिए श्रेयस्कर (कल्याणकारी) भावना रखने से ही ठीक और उचित रूप से चल सकती है, अन्यथा नहीं। इसलिए सृष्टि में चींटी से लेकर देवता तक सभी एक दूसरे के सहयोगी और सहायक माने गए हैं। और इसीलिए सब में आत्मदर्शन ब्रह्मदर्शन की भावना पुष्ट करने के लिए ज्ञान साधन है। मनुष्य को जब अपने ही समान दूसरा भी दिखलाई देता है, तब दूसरे के सुख दुखों का अनुभव अपने समान ही होता है। और जब वह दूसरों के सुख दुखों में सहायता करता है तो उसका सुयश होता है। जो परोपकार नहीं करता वह कभी यश का पात्र नहीं होता, इसलिए – "तजहु मोह अज्ञान" – तो "धर्म सुयश नृप तुम कहँ" – दूसरा एक आशय यह भी व्यक्त होता है कि जो मोही और अज्ञानी होते हैं, उन्हीं के मुख (याचना सुन कर) मलीन पड़ते हैं। तुम किसी समय याचक का अधिकार ले कर (जिन्हें दान का अधिकार प्राप्त था उन) दानी वसिष्ठ से पुत्र (राम) को माँगने गए थे, उस समय वसिष्ठ का तो मुख मलीन नहीं हुआ था ? आज मैं भी याचक के अधिकार से तुम्हारे पास आया हूँ, और तुम उन्हीं प्रसन्न मुख दानी वसिष्ठ के शिष्य हो, तुम्हें दान का अधिकार प्राप्त है, फिर भी तुम मुख मलीन कर रहे हो, देना नहीं चाहते तो यह अयश का हेतु होगा –

अधिकार पदं प्राप्य नोपकारं करोतियः ।
अकारो लोप मात्रेण ककार द्वित्वतां व्रजेत् ॥

अधिकार पद प्राप्त करके जो उपकार नहीं करता, उसके अधिकार की अकार लोप होते ही ककार दो हो जाती हैं। अर्थात् अधिकार से (अ) निकल कर तो (क) धिक्कार को चला जाता है। उसके अधिकार को लोग धिक्कार देने लगते हैं। अतः तुम प्रसन्न होकर दान दो और धर्म तथा

सुयश के भागी बनो।

इन कहँ अति कल्यान

तुम्हारा यह जो मोह है कि जो वस्तु दान में माँग रहे हैं वह कहीं घट न जाय, या उस वस्तु की परिस्थिति में अन्तर न आ जाय। यह मोह त्याग दो। जो दान लिए जा रहा हूँ, उस का कुछ घटेगा तो है ही नहीं, अपितु यश, कीर्ति, पुण्य इन सभी से उस दान का कल्याण ही होगा। और केवल कल्याण ही नहीं, अति कल्याण होगा। अर्थात् दान घटेगा नहीं बढ़ जायेगा और यश, कीर्ति, पुण्य को बढ़ाने वाली शक्ति भी प्राप्त होगी। इसलिए राजन्! तुम्हारा तो कल्याण होगा, अति कल्याण के लिए दान का (श्रीराम का) तो अति कल्याण होगा। और तुम्हारा यह जो अज्ञान है कि विश्वामित्र इन पुत्रों को अपने लिए माँग रहे हैं, यह अज्ञान भी त्याग दो, क्योंकि मैं अपने लिए कुछ नहीं माँग रहा हूँ। यह तो इस दान के ही अति कल्याण के लिए दान माँग रहा हूँ इसलिए "इन कहँ अति कल्याण" कहा।

याचक हमेशा दाता को ही पुण्य का प्रलोभन देता है, और उसकी ही प्रशंसा करता है। दान को न कोई प्रलोभन देता है न उसकी प्रशंसा ही करता है, केवल दान प्राप्त करने पर उस वस्तु की उत्तमता अनुत्तमता का वर्णन अवश्य कर देता है। परन्तु यहाँ तो "दान का भी अति कल्याण होगा" – इसका एक कारण यह है कि वह सभी दान की वस्तुएँ प्रायः जड़ हुआ करती हैं, इसीलिए उन वस्तुओं के कल्याण का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। दूसरा और भी विचार – यह कहने में कुछ विशेष आशय प्रतीत होता है, दान को दानी से भी विशेष लाभ होगा, यह महाराजा दशरथ जी के मस्तिष्क में सुझा देना ही इस वाक्य प्रयोग का सदाशय है। बात यह है कि इस याचना और दान में अभी तक याचक और दानी के ही लाभ की चर्चा हुई थी, परन्तु महर्षि ने सोचा कि दशरथ जी को अपने कल्याण का न उतना प्रलोभन हो सकता है न उतनी चिन्ता, जितनी कि श्रीराम

के कल्याण की कामना हो सकती है। यदि दशरथ जी को यह निश्चय हो जाय कि राम को देने में राम का ही अधिक कल्याण होगा, तो दशरथ जी राम को देने में किंचित् भी संकोच न करेंगे।

मैंने अपनी बाल्यावस्था में श्री अवध में अपने गुरु श्री १०८ परमहंस स्वामी श्री सीताशरण जी महाराज से एक सुन्दर बात सुनी थी। वह यह कि जब श्री राघवेन्द्र का जन्म हुआ तो रात्रि ने सोचा कि भगवान् ने दिवस में जन्म लेकर उसे तो पवित्र किया परन्तु मैं रह गई, मेरा उद्धार न हो सका। इसलिए श्री राघवेन्द्र से अपनी बात कहने चली। परन्तु जहाँ दिवस है वहाँ रात्रि कैसे पहुँचे? तो उसने दिवस में ही पहुंचने का रूप बनाया।

अवधपुरी सोहे यहि भाँती।
प्रभुहिं मिलन आई जनु राती॥
देखि भानु जनु मन सकुचानी।
तदपि बनी संध्या अनुमानी॥
अगर धूप बहु जनु अँधियारी।
उड़इ अबीर मनहु अरुणारी॥
मन्दिर मणि समूह जनु तारा।
नृप गृह कलश सो इन्दु उदारा॥
भवन वेद धुनि अति मृदुबानी।
जनु खगमुखर समय जनुसानी॥

इस प्रकार संध्या का वेश बनाकर रात्रि भगवान् के पास पहुँच गई। भगवान् ने कहा कहो! कैसे आई? रात्रि ने कहा कि आप का एक नाम जो आप को अधिक प्रिय है उसे बदलने आई हूँ। भगवान् ने कहा कि कौन सा नाम? रात्रि ने कहा – "पतितपावन।" भगवान ने कहा कि यह नाम तो मुझे अति प्रिय है इसे क्यों बदलना चाहती हो? रात्रि ने कहा कि जितने भी जप, तप, व्रत, हवन, पूजन आदि पवित्र कार्य हैं वे दिवस में ही होते हैं। और जितने भी जुआ, चोरी, जारी आदि के अपवित्र कार्य हैं वे मुझ रात्रि में (होते) हैं। यदि आप पतित पावन होते तो मुझ में अवतार

लेते, दिवस में क्यों लेते? दिवस में अवतार लेकर आप पवित्रपावन हो गए, पतितपावन नहीं रह गए। भगवान ने कहा कि "रात्रि यह मुझसे इस बार भूल हो गई है, अब आगे जो अवतार धारण करूंगा, वह तुझमें ही (मध्य रात्रि में ही) करूँगा।" रात्रि ने प्रसन्न होकर प्रणाम किया और कहा कि इस अवतार में भी मुझे कुछ मिलेगा या नहीं? भगवान ने कहा अच्छा जाओ, जन्म दिवस में हुआ है, परन्तु तुम जो रूप धारण करके यहाँ तक आई हो तुम्हारे उसी रूप (संध्या) में मेरा विवाह होगा।

धेनु धूलि बेला विमल, सकल सुमंगल मूल।
विप्रन्ह कहेहु विदेह सन, जानि समय अनुकूल॥

रात्रि यह दोनों ही वरदान पाकर प्रसन्न होकर लौट रही थी कि चन्द्र देव मार्ग में मिल गए। उन्होंने रात्रि से समाचार पूछा तो रात्रि ने सब कह सुनाया। चन्द्रमा ने कहा तुम तो बड़ी स्वार्थ मूर्ति हो, मुझ से क्यों नहीं कहा? मुझे भी तो भगवान के पास जाना था। रात्रि ने कहा तुम्हें वहाँ ले जाने का मौका नहीं था; और दो याचकों को एक साथ मिलता भी नहीं, यदि मिलता भी तो आधा आधा बट जाता। तुम किसी और समय मिल आना। कुछ दिनों बाद जब नामकरण का अवसर आया तो चन्द्रदेव भी ब्राह्मण के स्वरूप में श्री राधव से मिलने पहुंचे। भगवान ने कहा, कहो तुम कहाँ? चन्द्रमा ने कहा – रात्रि को भला किसी का नाम बदलने का क्या अधिकार है? यह काम तो हम पण्डितों का है। इसलिए आज नामकरण संस्कार में आपका नाम बदलने आया हूँ। क्योंकि आपने अधमोद्धारक होते हुए भी पवित्र सूर्य वंश में जन्म लिया है। मुझ अधम गुरुपत्नी संग करने वाले के वंश को आपने त्याग दिया। इसलिए आपका नाम पवित्रोद्धारक आज रखा जायेगा। भगवान ने कहा – चन्द्रमा मेरा अधमोद्धारक नाम तो न बदलो, अग्रिम अवतार तुम्हारे (चन्द्र) वंश में ही लूँगा। चन्द्रमा मन में तो प्रसन्न हो गए परन्तु ऊपर से उदास होकर कहने लगे – जाने कब अग्रिम अवतार होगा? किसने देखा है? इस अवतार में कुछ दो। भगवान ने कहा कि क्या चाहते हो? चन्द्रमा ने कहा – अधम और अधम-उधारण का साथ। भगवान ने कहा – जाओ, इस अवतार में

भी हमारा तुम्हारा नाम साथ चलेगा। इतने ही में श्री वसिष्ठ जी आए और सर्वप्रथम श्री राघवेन्द्र का ही नाम विचार कर बोले – राजन् इनका नाम है श्री "रामचन्द्र"। दशरथ जी ने कहा – महाराज सूर्यवंश में कुमार का जन्म है, यदि रामसूर्य रक्खें तो कैसा? श्री वसिष्ठ जी ने कहा – राजन्! श्रीरामलला अति कोमल प्रकृति के हैं। नाम का प्रभाव शरीर पर पड़ता ही है, सूर्य को साथ लगा दूँगा तो ताप विशेष से कष्ट होगा, इसलिए चन्द्र को साथ देने से शीतलता रहेगी। दशरथ जी ने कहा महाराज मुझे वंश कीर्ति की कोई परवाह नहीं है श्रीरामलला को सुख होना चाहिए। यही सोचकर विश्वामित्र जी ने कहा –

इन कहँ अति कल्यान
सुनि राजा अति अप्रिय बानी।
हृदय कम्प मुख दुति कुमुलानी॥

राजा ने विश्वामित्र जी की वाणी सुनी, तो "मुख दुति कुमुलानी" क्यों? सन्त की वाणी तो सुखदात्री होती है। परन्तु यह वाणी सुख देने वाली न हुई, क्योंकि अप्रिय वाणी है। सन्त की तो अप्रिय वाणी भी प्रसन्नता से सुननी चाहिए क्योंकि उस से अकल्याण तो होता नहीं, परन्तु यह तो अति अप्रिय वाणी है। यदि कोई सन्त श्रीराम का भक्त हो, और जिसके पास राम स्वयम् उपस्थित हों, उससे वह राम की याचना करे तो क्या जिसके पास राम हैं – उस भक्त का यही स्वभाव होना चाहिए कि सन्त की वह याचना सुनकर हृदय कम्प और मुख दुति कुम्हला जाय? रामधन के धनी लोग तो राम को पाकर राम–धन को सारे संसार भर में लुटाते फिरते हैं। और दशरथ जी कैसे हैं कि सन्त ने श्रीराम की याचना की है – इतने से ही "हृदय कम्प मुख दुति कुम्हलानी?" कारण यह है कि – श्री दशरथ जी राम को परब्रह्म तो नहीं समझते हैं, दशरथ जी ने "राम ब्रह्म परमारथ रूपा" धन तो नहीं पाया है। इन्होंने तो ब्रह्म को पुत्रधन के रूप में प्राप्त किया है। इसलिए जो राम को परब्रह्म समझ कर प्राप्त करते हैं वह रामधन को लुटाते हैं। यथा विश्वामित्र जी ने इन्हें जब प्राप्त किया तो – "प्रभु ब्रह्मण्यदेव मैं जाना" समझ गए कि साक्षात् परब्रह्म

हैं। इसीलिए गोस्वामी जी ने कहा "विश्वामित्र महानिधि पाई", इन्होंने यह निधि ले जाकर रख दी और वहाँ लुटानी प्रारम्भ की –

जाइ देखि आवहु नगर सुख निधान दोउ भाइ।
करहु सफल सबके नयन सुन्दर बदन दिखाइ॥

यह राम निधि नगर में आ रही है यह समाचार फैला तो –

धाए धाम काम सब त्यागे।
मनहुं रंक निधि लूटन लागे॥

लूट होने लगी, और विश्वामित्र को न हृदय कम्प हुआ न उन की मुख दुति कुम्हलानी, क्योंकि वह जानते थे कि ये राम मेरे पुत्र नहीं, शिष्य नहीं, केवल मेरे ही नहीं अपितु साक्षात् परब्रह्म हैं। समस्त सृष्टि के हैं –

ए प्रिय सबहि जहाँ लगि प्रानी।

तो फिर मेरे द्वारा लोगों में यह निधि क्यों न बँटनी चाहिए? तो फिर लूट क्यों हुई? बाँट ही क्यों न दी गई? बाँटने में बहुत कुछ अधिकार, अनधिकार, जाति, कर्म, स्वभाव की समीक्षा करनी पड़ती, लूट में तो किसी को कोई रोक टोक नहीं है, जितना भाग्य है उतना उसे अपने आप ही मिल जायगा। तभी तो गोस्वामी जी ने सबको रंक की उपाधि दे दी अर्थात सवर्ण, असवर्ण, छोटे, बड़े, अधिकारी, अनधिकारी सभी राम धन को ऐसा लूटने लगे जैसे कंगाल लूटते हैं।

राम निछावरि लेन को सुर होहिं भिखारी।

यहाँ "मनहुँ" अपेक्षा लूट की नहीं है, अपितु लूटने के प्रकार की है। बड़े बड़े धनवान भी रामधन ऐसे लूट रहे हैं जैसे परम भिखारी हों। यह लूट विश्वामित्र जी की उदारता से हुई है, या लूटने वालों के आग्रह से? बात यह है कि विश्वामित्र जी ने स्वयम् यह लूट होने दी है, क्योंकि उन्हें यह विश्वास है कि यही रामधन ही ऐसा है कि जो लुटाने से घटता नहीं सौगुना बढ़ता ही जाता है। इसलिये उन्होंने यह लूट होने दी और

न उदास हुए न कुम्हलाए। यदि दूसरे विचार से देखें तो, एक मिसाल प्रसिद्ध है कि – "माले मुफ्त दिले बेरहम।" विश्वामित्र जी को कोई कठिन तपस्या से तो यह धन प्राप्त हुआ नहीं था, इसलिए उन्हें लुटाने में अखरता ही क्यों? फिर, यह सन्त हैं, सन्त धन जोड़ते नहीं हैं, उनके पास जो धन आता है उसे जन कल्याणार्थ बाँट देना ही वह अपना कर्त्तव्य समझते हैं। इसलिए विश्वामित्र जी ने लुटाने में कोर कसर नहीं की। फिर यह भी सोचा कि ऐसी नगरी में आ गए हैं जहाँ सभी ब्रह्म के उपासक हैं, यह सब रामधन लूटे बिना छोड़ेंगे नहीं, इसलिए यदि अपनी तरफ से लुटाया जाय तो ये लोग मेरे कृतज्ञ बने रहेंगे। यदि ये लोग स्वयम् लूट लेंगे तो मुझे खाली हाथ वापस जाना पड़ेगा, और अयोध्या जाकर दशरथजी को क्या मुँह दिखलाऊँगा। इसलिए उन्होंने प्रसन्नता से रामधन लुटा दिया। परन्तु दशरथ जी जो राम को पुत्र समझते हैं, बड़ी तपस्या से प्राप्त हुए हैं, किसी की हठ या आग्रह से अपनी वस्तु किसी को देना सीखे नहीं हैं, राजा हैं, वीर हैं, प्राण रहते अपनी वस्तु पर स्वत्व है। भला पुत्र को एक बाबा जी की याचना पर कैसे दे दें? इसलिए वाणी सुनी, तो हृदय कम्प हुआ। फिर जब सोचा तो "अति अप्रिय वाणी" – कि यह पुत्र ही नहीं मेरे प्राण भी लेने आये हैं। अतः "मुख दुति कुमुलानी।"

कोई व्यक्ति धनहीन हो और वह किसी महापुरुष के पास धन की याचना करे, फिर महापुरुष उसे अटूट धन दे दे और किसी दिन कोई बहुत शक्तिशाली व्यक्ति उससे आकर कहे कि तुमने जो धन प्राप्त किया है, वह दे दो, तो उसका हृदय तो यह सुनते ही काँप जाता है। फिर वह उस महापुरुष की ओर देखता है जिससे वह अटूट धन मिला है। तो वह भी सर झुकाए मौन रह जाए, तब उसकी मुख दुति म्लान हो जाती है कि अब यह धन बचा नहीं सकता। यही दशा श्री दशरथ जी की हुई। "भै गलानि मोरे सुत नाहीं," पुत्र धन नहीं था, "गुरु गृह गये तुरत महिपाला" उन्होंने अटूट पुत्र धन दिया –

धरहु धीर होइहहिं सुत चारी।
त्रिभुवन विदित भगत भय हारी॥

इस धन को परम शक्तिशाली, विश्वामित्र जी आज एकाएक माँग बैठे। तो वाणी सुनते ही हृदय कँाप गया, फिर भी वसिष्ठ जी की तरफ देखा कि शायद यह कुछ सहायता करें, परन्तु उन्हें भी सर झुकाए मौन देखा तो मुख दुति कुम्हला गई कि शायद देना ही पड़ेगा। फिर भी साहस करके देखूं तो सही, कदाचित् बच ही जाए? इसलिए बोल उठे कि –

चौथेंपन पायउँ सुत चारी।
बिप्र बचन नहिं कहेहु बिचारी॥

चौथेपन पायऊँ सुत चारी –

षष्टिर्वर्षसहस्राणि जातस्य मम कौशिक।
दुःखेनोत्पादितश्चायं न रामं नेतुमर्हसि॥

(वाल्मीकि)

हे कौशिक! मुझे जन्म लिए हुए साठ हज़ार वर्ष हो गए। इस अवस्था में मैंने इन्हें दुख से उत्पन्न किया है, इससे आप श्री राम को न ले जाइये। चौथेपन से तात्पर्य यह है कि युवावस्था के पुत्र होते, तो देने में कदाचित् इतना मोह न होता। ये वृद्धावस्था में हुए हैं, इसलिए ये ही तो अवलम्ब मात्र हैं। इन्हें दे दूँ तो क्या फिर मैं –

भै गलानि मोरें सुत नाहीं॥

की दशा में हो जाऊँ? और क्या फिर वसिष्ठ जी से याचना करूँगा तो ये दे देंगे? वह तो कोई संयोग ही था कि मैंने एक माँगा और इन्होंने प्रसन्न होकर कह दिया कि –

धरहु धीर होइहहिं सुत चारी

परन्तु अब तो मौन हैं, यह भी नहीं कहते कि "अच्छा दे दो राजन् कोई हानि नहीं है", तो फिर वृद्धावस्था का एक मात्र धन आप छीनना चाहते हैं। यह –

बचन नहिं कहेहु बिचारी

युवावस्था से लेकर वृद्धावस्था तक, एक एक अवस्था का एक एक पुत्र है, हिसाब से कोई पाँचवीं अवस्था का पाँचवाँ पुत्र होता तो दे भी देता, चार अवस्था के चार पुत्र हैं फिर आप कैसे माँग रहे हैं?

बचन नहिं कहेहु बिचारी

बाल्यावस्था में – माता, पिता, गुरु, सखा, युवावस्था में – स्त्री, धन, बुद्धि, पराक्रम, अर्द्धावस्था में – परिवार, पुस्तकाध्ययन, पुण्य और पुत्र – ये चार सहायक होते हैं। वृद्धावस्था में केवल पुत्र ही सहारा होता है, और कोई नहीं। अतः चौथेपन में यह मुझे अवलम्बस्वरूप मिले हैं, आप इन्हें कैसे माँग रहे हैं?

बचन नहिं कहेहु बिचारी

मैं तो आपको भूमि, धन, धेनु, कोष आदि दे सकता हूँ, इससे अधिक इस संसार का मनुष्य (चाहे वह चक्रवर्त्ती ही क्यों न हो) कुछ नहीं दे सकता। आप जिन्हें माँग रहे हैं, वह मेरे देने की वस्तु नहीं हैं। मुझे भी जब उन्हें लेना था, तो राज्य कोष, धन, धाम, विश्व की समस्त विभूतियाँ त्यागकर वन में गया था, कठिन तपस्या की। मेरे पास –

बिधि, हरि, हर, तप देखि अपारा

बहुबार आए, और कहते रहे – माँगो माँगो, परन्तु मैं समझता था कि यह कोई भी मेरी इच्छित वस्तु नहीं दे सकते। इसीलिए –

मागहु बर बहु भाँति लोभाए।
परम धीर नहिं चलहिं चलाए॥

मैंने किसी से कुछ नहीं माँगा। जब राम स्वयं ही मुझ पर प्रसन्न हो गए, तो मैंने राम को ही राम से माँग लिया। और उन्होंने स्वयम् अपने को मुझे दे दिया। सोचिए तो सही – जब ब्रह्मा शिव विष्णु भी राम को देने में असमर्थ हैं, तो भला मैं संसार का साधारण प्राणी राम को देने का साहस कैसे कर सकता हूँ? आप विप्र हैं (विद्वान् हैं), यह –

बचन नहिं कहेहु बिचारी

यदि राम को लेना चाहते हैं तो राम से ही कहिए। राम जिस के पास जाना चाहते हैं, उसकी याचना को कोई बाधा नहीं हो सकती है। जिसके पास राम न जाना चाहें, तो उसे कोई भी राम का दान नहीं दे सकता। आप राम को चाहते हैं – राम से ही प्रार्थना करिए, मुझसे नहीं। यही श्री राम जी रानी रत्नावली की प्रार्थना सुनकर, (अनेक भाँति से रोकने पर भी) उसकी गोद में चले ही गए। भला राम जिसके पास जाना चाहें तो उनको कौन रोक सकता है? पुराणान्तर्गत एक कथा है कि श्री दशरथ जी महाराज के एक भाई थे, जिनका नाम था श्री वीरसिंह जी महाराज और उनकी धर्मपत्नी का नाम था रानी रत्नालिका जी।

श्री कौशल्या जी की गोद में एक दिन उन्होंने श्री रघुनन्दन को किलकारियाँ भरते देखा। देखते ही विह्वल हो गईं और दूर से ही (अपने महल की छत पर से ही) प्रार्थना की, कि भगवन्! क्या इसी तरह कभी मेरी गोद में न आओगे?

परम करुणासिंधु भक्तवत्सल श्रीराम ने वह प्रार्थना सुन ली और उन्होंने रत्नालिका की गोद में जाने का संकल्प कर लिया।

इधर श्री कौशल्या जी रामलला को गोद में लिए अपने महल की छत से नीचे उतर आईं और उधर श्रीराम के नेत्रों के सामने से हटते ही रत्नालिका जी बेहोश होकर अपने महल की छत पर गिर पड़ीं। कोलाहल मच गया कि छोटे महाराज की महारानी को जाने क्या हो गया? दासी, दास, उपचारक, झाड़ फूँक करने वालों की भीड़ लग गई। बात की बात में श्री चक्रवर्ती दशरथ जी तक सूचना पहुँच गई। उन्होंने श्री कौशल्या जी से जाकर कहा कि आपने सुना! वीरसिंह की बहू को न जाने क्या हो गया है, एकाएक बहुत बड़ी कुछ शारीरिक दुर्घटना हो गई है। कौशल्या जी ने कहा कि अभी वह अपनी छत पर ठीक टहल रही थीं, मैं भी तो अपनी छत पर ऊपर ही थी। दशरथजी ने कहा, शायद छत से उतरते समय गिर पड़ी हैं और बेहोश हो गई हैं। कौशल्या जी ने कहा मैं अभी जाकर देखती हूँ।

श्रीराम लला को गोद में लिए ही कौशल्या जी शीघ्रता से वीरसिंह जी के महल में चली गईं। चोबदार नक़ीब आवाज़ देने लगे – सावधान सावधान – श्री बड़ी महारानी पधार रही हैं। बड़ी महारानी का नाम सुनते ही रत्नालिका जी ने विचार किया कि – बड़ी महारानी आ रही हैं तो श्रीरामलला गोद में ही होंगे। तत्काल नेत्र खोल दिये, सामने श्री कौशल्या जी श्रीरामलला को गोद में लिए खड़ी थीं। रत्नालिका जी कृतार्थ हो गईं। कौशल्या जी ने कहा – बहूरानी कैसी तबियत है? रत्नालिका जी ने कहा – अब तो ठीक है। मन ही मन श्री राघव से कहा कि प्रभु यहाँ तक आ गए तो इस गोद में भी आ जाओ। इतने ही में श्रीरामलला जी कौशल्या जी की गोद से रत्नालिका जी की गोद में जाने के लिये मचलने लगे और इतना मचले कि रत्नालिका जी की गोद में दे ही देना पड़ा। रत्नालिका जी ने श्रीरामलाल को अपनी गोद में पाकर जिस सुख का अनुभव किया वह कह ही कौन सकता है? श्री कौशल्या जी ने कहा – अच्छा बहूरानी अब मैं जा रही हूँ। और श्रीराघव को लेने के लिए अपने हाथ बढ़ाए। श्री रत्नालिका ने श्रीरघुचन्द्र के कान में धीरे से कहा – क्या गोद में आकर भी वापस चले जायेंगे? श्री रघुनन्दन ने कहा – जितनी तपस्या, उतना फल। यदि अधिक चाहती हो तो दशरथ कौशल्या जैसा ही तप करो।

श्री रामलाल चले गए। श्री रत्नालिका जी ने अपने पति महाराज वीरसिंह जी से सब वृत्तान्त कहा। उन्होंने अपनी समस्त सम्पत्ति उसी क्षण दान कर दी और तपस्या के लिए स्त्री-पुरुष दोनों ही वन को चले गये। कदाचित् किसी कल्प में वही श्री वीरसिंह जी और रत्नालिका जी श्री नन्द और यशोदा हुए। श्री रघुनन्दन ने श्री व्रजचन्द्र के रूप में प्रगट होकर उन की गोद भर दी। भला राम जिसके पास जाना चाहें तो कौन रोक सकता है? अतः हे विप्र! आपने दाता को विचार कर वचन नहीं कहा। राम को चाहते हैं तो राम ही अपने आपके दाता हैं उन्हीं से कहिए।

राम देत नहिं बनइ गोसाईं

राम को तो राम स्वयं ही दे सकते हैं, दूसरा कोई राम को दे,

यह – "नहिं बने गुसाईं।"

"माँगहु भूमि, धेनु, धन कोषा" – यह सब वस्तुएँ तो आप ले सकते हैं। इन सब पर तो लेन देन का समानाधिकार है परन्तु –

राम ब्रह्म परमारथ रूपा।
अविगत अलख अनादि अनूपा॥

साक्षात् परब्रह्म हैं, ब्रह्मदान तो विरक्त गृहस्थ को करता हैं, (आप मुझे कर सकते हैं) गृहस्थ विरक्त को ब्रह्मदान कैसे करेगा? मै गृहस्थ हूँ, आप विरक्त हैं – आप को मैं राम – ब्रह्म का दान करूँ, यह तो आप का महा अपमान करना है। अतः मुझसे "राम देत नहिं बनइ गुसाईं।"

राम पर अधिकार जब तक प्राप्त नहीं हुआ था तब तक तो "चरण लागि करि बिनय विशाला" की दशा थी। जब वसिष्ठ जी से राम पर अधिकार प्राप्त हो गया, तो कह रहे हैं "राम देत नहीं बनै गुसाईं।" विश्वामित्र जी ने सोचा – अधिकार होता ही ऐसा है। श्री गुरु तो ऐसे हैं कि – "मोरे सुत नाहीं" मेरे कोई पुत्र नहीं है, (अर्थात् एक पुत्र माँगने पर) "हुइ हैं सुत चारी" चार पुत्र दे देते हैं। परन्तु शिष्य ऐसे हैं कि चार में से एक भी देने के लिए कह रहे हैं कि "राम देत नहीं बनैं गुसाईं।"

श्री दशरथ जी ने पहले – "कहहु सो करत न लाउब बारा" कहकर, अब साफ इनकार किया कि "राम देत नहीं बनै गुसाईं।" यह दशरथ जी को भी ध्यान हुआ कि सज्जनों के व्यवहार में तो इतनी रुक्षता नहीं होनी चाहिए। मैंने राम प्रेम में याचक महर्षि को कटु सत्य कह दिया, कहीं इनका हृदय दुख न गया हो। अतः तत्काल अपने कटु व्यवहार को मृदु बनाने के लिए बड़े ही नम्र होकर बोले कि – आप ही सोचिए!

कहँ निसिचर अति घोर कठोरा।
कहँ सुन्दर सुत परम किसोरा॥

इसलिए "राम देत नहीं बनैं गुसाईं।" यह चातुर्य देखकर "हृदय हरष माना मुनि ज्ञानी।"

आपने तो कहा था कि – "असुर समूह सतावहि मोहीं।" उन असुरों के लिए – "कहँ निसिचर अति घोर कठोरा। कहँ सुन्दर सुत परम किसोरा" – यह सुकुमार बालक क्या करेंगे? उनकी समाप्ति के लिए धन कोष पर्याप्त है। या फिर मुझे आज्ञा दीजिए –

देह प्राण तें प्रिय कछु नाहीं।
सोउ मुनि देउँ निमिष इक माहीं॥

युद्ध के लिए आपके साथ चलकर, मैं स्वयं अपने प्राण तक दे सकता हूँ, परन्तु उन निशाचरों से लड़ने के लिए राम ही का जाना क्यों आवश्यक है? यह समझ में नहीं आता। अतः "राम देत नहीं बनैं गुसाईं" – अपनी याचना का यह युक्ति पूर्ण उत्तर सुनकर "हृदय हरष माना मुनि ज्ञानी।"

जो व्यक्ति राम को प्राप्त कर लेता है, वह सर्वस्व त्याग का दृढ़ संकल्प कर लेता है। उसका तो ध्येय रहता है कि –

यह तो बतला दे भला मुझको कोई
कब नहीं पड़ती है किस दौलत पै खाक।
फिर भला इस खाक के पुतले को यार,
नाज़ हो हिर्सो हबिस दौलत पै ख़ाक॥
मुझको लालच हो तो किस दौलत पै हो,
उड़ रही है आज जिस दौलत पै ख़ाक।
राम के चरणों की जो लेते हैं ख़ाक,
डाल देते हैं वो इस दौलत पै खाक॥

(बिन्दु)

यथा –

रमा विलास राम अनुरागी।
तजत बमन जिमि जन बड़ भागी॥

मैंने भी सब कुछ त्याग किया – परन्तु यह त्याग ईर्ष्या, द्वेष के

लिए हुआ, राम के लिए नहीं। यदि राम के लिए मेरा भी सब त्याग हुआ होता, तो आज राम मेरी तपोभूमि में आये होते, दशरथ के राजमहल में नहीं। इसलिए जो राम के लिए इतना बड़ा त्याग कर सकता है, राम उसी के घर आ सकते हैं, और वही कह सकता है कि –"राम देत नहिं बनइ गुसाईं।" फिर भला इसमें क्रोध कैसे किया जाय? यह तो प्रसन्न होने की बात है। अतः –

हृदय हरष माना मुनि ज्ञानी

इस अंश का अन्य ग्रन्थों से साम्य –

१ – चौथेंपन पायउँ सुत चारी –

षष्टिर्वर्षसहस्राणि जातस्य मम कौशिक।
दुःखेनोत्पादितश्चायं न रामं नेतुमर्हसि॥

(वाल्मीकि)

हे कौशिक! मुझे पैदा हुए साठ हजार वर्ष हुए, इतनी अवस्था में मैंने इनको दुःख से उत्पन्न किया है, इससे आप राम को न ले जाइये।

२ – माँगहु भूमि धेनु धन कोषा –

गजाश्वादीनि रत्नानि वस्त्राणिच धनानि च।
मंदिराणि विचित्राणि गृहाणत्वं यदिच्छसि॥

(गर्ग स०)

हाथी, घोड़े, धन, रत्न, सोना और महल, मन्दिर, जो कुछ आप की इच्छा हो सो लीजिए।

३ – सब सुत प्रिय मोहि प्रान कि नाईं –

चत्वारोऽमर तुल्यास्ते, तेषांरामोऽतिवल्लभः।
किं करोमि मुने रामं त्यक्तुं नो सहते मनः॥

(अध्यात्म)

ये चारों पुत्र देवता के समान हैं, तो भी इन सब में श्रीरामचन्द्र जी मुझे अधिक प्यारे हैं। हे मुने क्या करूँ, मेरी इच्छा श्रीराम को छोड़ने की नहीं होती।

४ – कहँ सुन्दर सुत परम किसोरा –

ऊन षोडश वर्षो मे रामो राजीव लोचनः।
न युद्ध योग्यतामस्य, पश्यामि सहराक्षसैः
कथं च प्रतिकर्त्तव्यं तेषाँ रामेणरक्षसाम्॥

(वाल्मीकि)

इस समय मेरे राजीव लोचन राम पन्द्रह वर्ष के हैं। राक्षसों के साथ लड़ने की योग्यता इनमें मैं नहीं देखता। रामजी उन राक्षसों को कैसे जीत सकेंगे? ये उन से लड़ने योग्य नहीं हैं।

श्री विश्वामित्र जी इस प्रश्नोत्तर से प्रभावित होकर –

हृदयँ हरष माना मुनि ग्यानी॥
सुनि राजा अति अप्रिय बानी।

अप्रिय बानी – अनुज समेत देहु रघुनाथा
अति अप्रिय बानी – निसिचर बध में होब सनाथा

पहले तो मन, वचन, कर्म – तीनों से राजा ने हर्षित होकर कहा–

मन – "तब मन हर्ष बचन कह राऊ"
बचन – "कहि न सकौं निज पुण्य प्रभाऊ"
कर्म – "केहि कारण आगमन तुम्हारा"

अब तीनों ही से मलीन हो गए –

मन – "हृदय कम्प"
कर्म – "मुख दुति कुम्हलानी"
वचन – "चौथेपन पायउँ सुत चारी। बिप्र बचन नहि कहेहु बिचारी॥"

प्रथम राजा ने कहा – "कहहु सो करत न लाउब बारा" – आज्ञा कीजिए। जब ऋषि ने कहा – "मैं याचन आयउँ नृप तोही।" तब उसका उत्तर दिया – "माँगहु भूमि धेनु धन कोषा।"

तात्पर्य यह कि आज्ञा करते, तो चाहे पालन भी कर देता क्योंकि पुत्रों के वापस होने की आशा थी, परन्तु तुम तो माँग रहे हो और रघु वंश का क़ायदा है कि दान देकर वापस नहीं लेते। अतः ऐसा दान तो "भूमि धेनु धन कोषा" ही हो सकता है, पुत्र नहीं।

"सर्वस आज देउँ" –

सब दिन सर्वस्व दान नहीं दिया जाता, किसी खास मौके पर ही सर्वस्व दान की बारी आती है। इसके लिए राजा बलि, राजा हरिश्चन्द्र, राजा रन्तिदेव आदि उदाहरणीय हैं। अतः जब आप यह कहते हैं कि – "मैं तुम्हीं से माँगने आया हूँ और किसी से नहीं", तो भी मैं कह सकता हूँ कि "सर्वस्व दान मैं आज ही और आपको ही देने को तैयार हूँ, इससे पहले सर्वस्व दान कभी किसी को नहीं दिया।"

"देह प्रान ते प्रिय कछु नाहीं" –

सब से प्यारी भूमि, फिर धेनु (शक्ति), फिर धन, फिर खजाना, फिर परिवारादि सर्वस्व, फिर (सबके देह परम प्रिय स्वामी) देह प्राण (यहाँ तक दे दूँगा) अर्थात् राम को न लेकर, मुझे ही ले चलिए। मैं रण में प्राण तक दे सकता हूँ, परन्तु जीते जी राम जी को न दूँगा।

"सब सुत प्रिय मोहिं प्रान कि नाईं" –

आपने कहा कि "देहु भूप मन हर्षित" इससे जान पड़ता है आप मलिन का दान नहीं लेंगे। तो फिर पुत्र तो हमारे प्राण हैं। यदि प्राण ले लेंगे तब तो मैं मृतक के समान हो जाऊँगा, और जब मलिन मन का दान नहीं ले सकते तो क्या मुझे निर्जीव करके ले सकेंगे? फिर वह ब्राह्मण कैसा जो दान कुदान का विचार न करे। ब्राह्मण तो शुद्ध दान लेते हैं शव का दान नहीं लेते, जब प्राण निकाल ही लेंगे तो मैं शव ही तो रह

जाऊँगा, आप हैं तो ब्राह्मण ही न, महापात्र तो नहीं हैं? फिर विचार कर दान क्यों नहीं माँगते। क्या सूतक मृतक का भी आपको स्वीकार है?

"राम देत नहिं बनइ" –

अगर आप नहीं मानें, प्राण खींचना ही चाहें, तो अन्य कुमारों को माँग लें परन्तु राम को न मांगें। क्योंकि अन्य हैं प्राण, और राम हैं प्राणों की चैतन्यता। मूर्छा में भी प्राण प्रायः शरीर में ही रहते है परन्तु प्रसुप्त से रहते हैं, किन्तु प्राण की चैतन्यता रहती ही है। प्राणों के न रहने, पर पुनः आ जाने पर शरीर जी उठता है। यदि प्राण में चैतन्यता न रहे तो प्राण आकर भी क्या कर सकते हैं? राम तो "प्राण प्राण के, जीवन जी के" हैं अतः "राम देत नहिं बनइ गुसाईं"

यह तर्कसिद्ध यथार्थ उत्तर सुन मुनि ज्ञानी प्रसन्न हो गए – "हृदय हरष माना मुनि ज्ञानी।"

"तब वसिष्ठ बहुविधि समझावा" –

अक्रोधेन् जयेत् क्रोधं, असाधु साधुना जयेत्।
जयेत् कदर्य दानेन, जयेत् सत्येन चानृतम्॥

शान्ति से क्रोध को, असाधुता को साधुता से, कायरता और कृपणता को दान से, तथा झूठ को सत्य से जीत लेना चाहिए। शान्ति और साधुता से महर्षि ने तुम्हें जीत लिया। अब तुम्हें चाहिये कि दान से, और "करत न लाउब बारा" वाली प्रतिज्ञा की सत्यता से महर्षि को जीत लो। दूसरा उपाय उन्हें जीतने का नहीं है।

दशरथ जी ने कहा कि "बड़ी कठिनाई से तो मैंने प्राप्त किये हैं, इन्हें कैसे दे दूँ?" वसिष्ठ ने कहा– आसानी से प्राप्त की हुई वस्तुएं, तो सभी दान कर सकते हैं। कठिनाई से प्राप्त की हुई वस्तु को दान करने का नाम दान है।

तुमने वचन दिया है, यदि नहीं दोगे तो असत्य भाषण का दोष

लगेगा, जो तुम्हारे कुल के लिए महाकलंक है। इसीलिए मनुष्य को बहुत सोच समझ कर वचन निकालना चाहिए। तुमने सोचकर पहले नहीं कहा, इसका यही दण्ड या प्रायश्चित्त हो सकता है कि दे दो। दशरथ जी ने कहा कि – महाराज झूठ बोलने का दोष तो नहीं लगेगा। क्योंकि – "स्त्रीषु नर्म विवाहे च वृत्यर्थे प्राण संकटे। गो ब्रह्मणार्थे हिंसायाम् नानृतम् स्यात जुगुप्सितम॥" – रहस्य की बात छिपाने के लिए स्त्री से, किसी का कल्याण होता हो तो, कन्या का विवाह होता हो, व्यापार-जीविका का कार्य हो, प्राणों पर संकट आ रहा हो, गौ हत्या हो रही हो, ब्राह्मण हत्या हो रही हो या कोई भी अकारण घातक काण्ड हो रहा हो तो – हित के लिए अनृत (झूठ) निन्दित कर्म नहीं है इसलिये झूठ बोलने का दोष नही लगेगा।

वसिष्ठ जी ने कहा कि राजन्! विश्वामित्र स्त्री नहीं हैं, गाय और ब्राह्मण के हत्यारे भी नहीं है, किसी के अकल्याण के लिए भी नहीं माँग रहे हैं। वरन् लोक-कल्याण के लिये और किसी की कन्या के विवाह के लिए ही इन्हें माँग रहे हैं। इसलिए न दोगे, तो अवश्य असत्य भाषण के भागी होंगे इसलिए दे दो। विश्वामित्र जी का क्रोध तो प्रसिद्ध ही है, न देने से कहीं राम का कुछ अनिष्ट न कर बैठें, इसलिए देना ही चाहिए। दशरथ जी ने कहा कि – गुरुदेव! जब ये क्रोधी ही हैं, तब तो राम को लेकर भी राम का अकल्याण कर सकते हैं। क्रोधी का क्या ठिकाना? वसिष्ठ जी ने कहा कि – राजन्! जिस प्रकार तुम सत्यवादी प्रसिद्ध हो, उसी प्रकार विश्वामित्र जी हठी प्रसिद्ध हैं, जिस प्रकार तुमने कहा है कि "कहहु सो करत न लाउब बवरा", उसी प्रकार यह भी कह चुके हैं कि "धर्म सुयस नृप तुम कहँ, इन्ह कहँ अति कल्यान।" अतः तुम अपने सत्य का पालन करोगे तो यह राम के कल्याण करने के हठ का भी अवश्य पालन करेंगे। इसलिए दे दो, इनके पास अनेक वर प्राप्त शस्त्रास्त्र एकत्रित हैं जो इन्होंने अभी तक किसी को नहीं दिये हैं। श्री राम सेवा में रहेंगे तो वह अलौकिक अप्राप्य सभी सामग्रियाँ प्राप्त कर लेंगे। इसलिये दे दो।

मैंने कहा था – "धरहु धीर होइ हैं सुत चारी, त्रिभुवन विदित भगत भय हारी।" तात्पर्य यह है कि – श्रीराम का अवतार भूभार हरण करने

के लिए हुआ है, केवल अयोध्या का राजा बनने के लिए नहीं। इसलिए तुम "भक्त भयहारी" को "दशरथ गोदविहारी" नहीं बना सकते। मेरा वाक्य सत्य करने के लिए दे दो।

वह शिष्य कैसा कि जो गुरुदेव का अनुकरण न करे? मैंने इनकी क्रोधाग्नि में अपने सौ पुत्रों का बलिदान दे दिया, और तुम इनकी सहर्ष याचना में दो पुत्र दान भी नहीं देना चाहते? भला कैसे तुम मेरे शिष्य हो? अवश्य दे दो। इनकी याचना पर तुमने न ही कर दी, और तुम्हारी न पर यदि ये नाराज हो जाते तो तुम्हें कदापि न देने देता, समझ लेता कि यह क्षमाशील नहीं हैं। परन्तु तुम्हारी न करने पर भी जब "हर्ष माना मुनि ज्ञानी" – ये प्रसन्न हो गये, वास्तव में पूर्ण शांत, महन्त, ज्ञानी, महात्मा हैं। क्षमाशील हैं, क्योंकि –

वाहिये बाध्यात्मिकेचैव दुःखेचौत्पत्ति केक्कचित्।
न कुप्यति न वैहन्ति सा क्षमः परिकीर्तिता॥

इनसे पुत्रों का कभी अकल्याण नहीं हो सकता इसलिए दे दो।

गुरुदेव! मैंने आपसे ऐश्वर्य (भरत), बल (शत्रुघ्न), गुण (लक्ष्मण), परमार्थ (श्रीराम) – यह चार प्राप्त किए हैं। इनमें से मैंने ऐश्वर्य, बल और गुण के लिए तो विश्वामित्र जी से कुछ नहीं कहा। इस चतुर्थावस्था में परमार्थ यदि दे दूँ, तो फिर अन्तिमावस्था का साधन ही क्या रह गया? इसलिए राम को नहीं देना चाहता। वसिष्ठ जी ने कहा कि – राजन्! ऐश्वर्य, बल और गुण मनुष्य के परमार्थ के लिए होते हैं, परन्तु परमार्थ अपने लिए नहीं परोपकार के लिए होता है। इसलिए तुम्हें तो देना ही चाहिए। दशरथ जी ने कहा कि – गुरुदेव! जिस दान से एक की रक्षा और अनेक का विनाश हो, क्या वह दान परमार्थ कहा जायेगा? महर्षि कह रहे हैं कि –

निसिचर बध मैं होब सनाथा

निशाचरों के समूह का नाश होगा और ये केवल सुखी होंगे, यह दान देना कैसे ठीक होगा। वसिष्ठ जी ने कहा – राजन्! महर्षि दधीचि ने तो अपनी अस्थियाँ देकर असुरों का विनाश करवा दिया था, जो धर्म, समाज, राष्ट्रविरोधी समूह हो उसके विनाश करने में जो भी उपाय हो वह श्रेयस्कर है। विश्वामित्र जी अकेले अपने लिये नहीं समस्त जनकल्याण के लिए माँग रहे हैं। इसलिये इन्हें दे देना चाहिए।

दूसरे यह पुत्र तुम्हें अन्ध तापस के शाप से मिले हैं। इसलिए बाँट दोगे, तो शाप का फल भी आधा रह जायेगा नहीं तो पूरा फल भोगना पड़ेगा।

"यदि राम लक्ष्मण को ले जाकर फिर इन्होंने न लौटाया तो?" वसिष्ठ जी ने कहा कि – राजन्! पहले तो मैं ब्राह्मण हूँ, चारों पुत्र मैंने तुम्हें दिए हैं। क्षत्री को ब्राह्मण से दान लेना नहीं चाहिए। यदि लिया है तो आधा बाँट दो, पचेगा नहीं। और यदि मान लो कि विश्वामित्र नहीं ही लौटाएँ, तो तुमने एक माँगा था, मैंने चार दिये। अब यदि उसमें से मैं देने को कह रहा हूँ और दो वापस न मिलें, तो मैं ज़मानत में बैठा हूँ। मुझसे दो के बदले आठ ले लेना। इतना सुनते ही –

नृप संदेह नास कहँ पावा

श्री गुरुदेव वसिष्ठ जी के (इस प्रकार) समझाने से महाराज दशरथ के हृदय में जो संदेह था, वह नाश हो गया। संदेह क्या था? –

१ – विश्वामित्र जी वसिष्ठ जी के विरोध से मुझे कष्ट देने तो नहीं आए?

२ – दे देने पर श्रीराम लक्ष्मण को वापस देंगे या नहीं?

३ – वसिष्ठ जी कहीं रुष्ट तो न होंगे कि मुझसे बिना पूछे ही हाँ कर लिया, मेरा कोई अधिकार समझा ही नहीं।

४ – मेरे परम किशोर बालक निशाचरों से युद्ध कर सकेंगे या नहीं ?

यह सभी प्रकार के सन्देह समाप्त हो गए। तब –

अति आदर दोउ तनय बुलाए।
हृदयँ लाइ बहु भाँति सिखाए॥

बड़े सत्कार से, प्रेम से श्री राम और लक्ष्मण दोनों पुत्रों को बुलाया (कदाचित् प्रणाम करा देने के बाद जब देखा कि विश्वामित्र अपनी आँख इन पर से हटाते ही नहीं, तो भीतर महल में भेज दिया होगा। इसलिए अब – "दोउ तनय बुलाए" सूचित किया गया) और हृदय से लगा कर अनेक प्रकार की शिक्षा दी – "श्री विश्वामित्र जी की आज्ञा का उल्लंघन न करना। इन्हें अपनी सेवा से प्रसन्न रखना। वहाँ राजसुख नहीं है, राजकुमारों की सी हठ न करना। बड़ी सावधानी से शान्तिपूर्वक कष्ट सह कर भी मुनिदेव का कार्य पूरा करना। हमारा वंश सर्वदा से साधु ब्राह्मणों की सेवा में तत्पर रहा है। इस वंश का यश केवल ऐश्वर्य भोग से नहीं हुआ है, यह वंश तो कर्त्तव्य परायणता से ही विख्यात हो सका है।" आदि आदि "बहु भाँति सिखाये।"

मोरे प्रान नाथ सुत दोऊ।
तुम्ह मुनि पिता आन नहिं कोऊ॥

श्री विश्वामित्र जी से दशरथ जी ने कहा कि – भगवन्! दोनों पुत्र मेरे प्राणों के नाथ हैं, स्वामी हैं। मैं इन्हें देकर अनाथ हो रहा हूँ, आप सनाथ हो रहे हैं। परन्तु एक बात का आप ध्यान अवश्य रखें कि (तुम्ह मुनि पिता) अब आप ही इनके पिता हैं (आन नहि कोऊ) दूसरा इनका वहाँ कोई नहीं है।

मुनि से दशरथ जी ने यह भी कह दिया कि आप इनके पिता हैं – "आन नहिं कोऊ" और कुछ नहीं हैं। अर्थात् आप यदि गुरु शिष्य का भाव समझेंगे, तो ये सेवा धर्म नहीं निबाह सकेंगे। आप इन्हें पुत्र

समझें और अपने पितृत्व का निर्वाह करें। आप को प्यास लगने पर यदि शैशवता के कारण जल न दे सकें, तो भी आप इनकी भूख प्यास की पूरी चिन्ता रखना। तात्पर्य यह कि ये अबोध बालक हैं, आप इन बालकों के पिता हैं और कुछ न समझिएगा।

सौंपे भूप रिषिहि सुत बहुबिधि देइ असीस।

श्री महाराज दशरथ ने अनेक प्रकार से आशीर्वाद देकर महर्षि को अपने पुत्र सौंप दिए।

विश्वामित्र जी ने कहा – राजन्! आपने यह दान देकर मेरी याचना सफल कर दी। दशरथ जी ने कहा – मुनिवर! याचना तो तब सफल होती जब मैं दान देता। यह दान नहीं दे रहा हूँ – सुपुर्द कर रहा हूँ, सौंप रहा हूँ। धरोधर है। दान देकर तो हम आप से नहीं लेते। यह तो थाती सौंप रहा हूँ, आपको वापस देना होगा। और अगर ज़रा भी थाती घट गई, तो आप उसके जिम्मेदार होंगे।

विश्वामित्र जी हँस पड़े और बोले – राजन्! हम नेकनीयत हैं, दयानतदार, ईमानदार, साहूकार हैं। तुम चिन्ता न करो। थाती तो तुम्हारी जैसी की तैसी वापस कर देंगे। साथ ही इस थाती का चौगुना ब्याज भी तुम्हारे घर पहुँचा देंगे।

बोलिए श्री राजा रामचन्द्र महाराज की जय!

* * *

विश्वामित्र प्रसंग का सिद्धान्तत्रय परक विचार

इस प्रसंग में कुछ बातें मुख्य जान लेने की हैं –

१ – जब अपना पुरुषार्थ परोपकार करने का न रह जाए, तभी दूसरों से माँगना चाहिए, अन्यथा नहीं।

२ – परोपकारी सन्त ही गृहस्थ से माँग सकता है, सभी को दान माँगने का अधिकार नहीं।

३ – दान परोपकार के लिए ही माँगना चाहिए, स्वार्थ के लिए नहीं।

४ – दान माँगना तभी चाहिए, जब दानी उत्साहित होकर देने की प्रतिज्ञा कर ले।

५ – दान देने वाला यदि प्रसन्न वदन, प्रसन्न मन से ही दान दे तो लेना चाहिए। यदि मलिन मुख और मलिन मन से दान मिलता हो, तो उसे त्याग देना चाहिए; वह दान अशुभ होता है फलीभूत नहीं होता, विघ्न बाधाएँ उपस्थित कर देता है। इसीलिए पहले या तो युद्ध से राज्य लिया जाता था, या कोई प्रसन्न मन से किसी को देता था, तब वह राज्य सुख समृद्धि का कारण होता था। यदि माँग कर राज्य लिया जाय तो कोई सुखी मन से देगा नहीं, और दुखी मन से दिया हुआ राज्य कभी सुख भोग सकेगा या नहीं – इसमें शंका है।

६ – दानी को चाहिए कि दशरथजी की भाँति भली प्रकार परीक्षा करने पर ही दान दे, बिना सोचे समझे दान देने का कोई महत्व नहीं।

७ – याचक परोपकारी हो, निःस्वार्थ, वीतरागी, तपस्वी हो फिर भी दानी मोह वश अपनी किसी वस्तु को देने में हिचकता हो, तो सद्गुरु

का कर्तव्य यही है कि दान दिलाने का ही पूरा प्रयत्न करें। ऐसे दान में बाधक गुरु तो शुक्राचार्य ही होता है।

* * *

पाषाणी अहिल्या

* द्वितीय रत्न *

पाषाणी अहिल्या

आश्रम एक दीख मग माहीं।
खग मृग जीव जन्तु तहँ नाहीं॥

महर्षि विश्वामित्र का यज्ञ सम्पूर्ण हो चुका, उसके बाद ऋषिराज ने मिथिलापुरी में होने वाले सीय-स्वयंवर की चर्चा चलाई। और यह सोचकर कि इन्हें माँग कर लाया हूँ केवल यज्ञ-रक्षा के लिए, इनके पिता से भी कह आया हूँ कि -

निसिचर बध मैं होब सनाथा।

अर्थात् राक्षसों का नाश हो जाने पर मैं सनाथ हो जाऊँगा, मेरा कार्य पूर्ण हो जायेगा। इस कहे हुए वचन के अनुसार इन्हें वापस ले जाकर श्री दशरथ जी को सौंप देना चाहिए, परन्तु रघुनन्दन के दर्शन से नेत्र अभी अतृप्त हैं, साथ छोड़ना नहीं चाहते। अनुराग का नियम ही ऐसा है। बड़े-बड़े वीतराग, तपस्वी, योगिराज भी, उस साकार सगुण ब्रह्म के एक बार दर्शन कर लेते हैं, तो फिर भगवत् सानिध्य छोड़ने की इच्छा नहीं होती। विश्वामित्र जी विचार के प्रतीक हैं और विचार का यह स्वभाव है कि जब उसे प्रत्यक्ष ब्रह्म पर पूर्ण विश्वास हो जाता है तो विचार एक क्षण के लिए भी प्रभु से पृथक होना नहीं चाहता। तभी तो बड़े-बड़े विचारवान् विद्वान् प्रभु के ध्यान में इतने मग्न हो जाते हैं कि उन्हें और तो क्या, स्वयम् अपने आप तक की सुधि नहीं रहती। जीवन-मरण का प्रश्न भी उनके लिए एक साधारण सा मनोविनोद मात्र ही रह जाता है।

फिरहिं सनेह मगन सुख अपने।
नाम प्रसाद सोच नहिं सपने॥

विश्वामित्र जी को एक स्मरण यह भी हुआ कि मैंने श्री राम की याचना करते हुए यह भी तो कहा था कि –

धर्म सुजस नृप तुम कहँ, इन कहँ अति कल्यान॥

अतएव मेरा यज्ञ तो सम्पूर्ण हो गया और महाराजा दशरथ को धर्म, सुयश भी प्राप्त हो गया। परन्तु श्री राघवेन्द्र का "अति कल्याण" तो क्या, कुछ कल्याण भी मैं न कर सका। जिसने यज्ञ की रक्षा की है, और यज्ञ को पूर्ण करवाया है उसे कुछ पुरस्कार तो देना चाहिए। और यह तभी हो सकता है जब इन्हें मिथिलेश महाराज का अतिथि बनाया जा सके। परन्तु यह भी बहुत सम्भव है कि सीय-स्वयंवर समारोह सुनकर कदाचित् यह आगे पाँव ही न रक्खें। क्योंकि न इन्हें जनकराज की ओर से निमंत्रण है और न इनके पिता ने ही इन्हें स्वयंवर में जाने की आज्ञा दी है। आये थे यज्ञ रक्षा करने, चल पड़े बाबाजी के साथ विवाह करने। भला चक्रवर्ती महाराजाओं के राजकुमारों का विवाह बाबाजी कराते फिरें, और वह भी वर राजा को साधारण पोशाक में पैदल घसीटकर ससुराल वालों को दिखाने ले जायें कि यह वर तुम्हें पसन्द है या नहीं? इस असंगत संकल्प को विश्वामित्र जी ने भली भाँति विचार कर देखा, तो ठीक नहीं जान पड़ा। बुद्धिशाली भी थे, अनुभवी भी थे और व्यवहार कुशल भी थे, तत्काल एक नवीन योजना गढ़ डाली। आपने सोचा कि सीय-स्वयंवर का दूसरा ही नामकरण क्यों न कर दें जिससे इन्हें यह पता ही न चले कि हमें विवाह के लिए ले जाया जा रहा है। बड़े ही चातुर्य से आपने श्री रघुनन्दन से कहा – यह यज्ञ तो हम ब्राह्मणों का काम है जिसे आपने देखा परन्तु यदि आपको कष्ट न हो तो एक महोत्सव चलकर और देख लीजिए –

तब मुनि सादर कहा बुझाई।
चरित एक प्रभु देखिय जाई॥

मुनिराज ने बड़े ही सम्मान से कहा – "आप तो महाराजा चक्रवर्ती

के राजकुमार हैं, सब जगह जाते थोड़े ही फिरते हैं। यह तो हमारी अतिशय प्रार्थना पर यहाँ तक पधार सके हैं। उचित तो यही है कि अब हम आपको वापस अयोध्या ही ले चलें, फिर भी एक अभूतपूर्व क्षत्रियों का महायज्ञ हो रहा है, जिसमें दूर-दूर के देशों के राजा-महाराजागण पधारे हुए हैं और उन सबके बल की परीक्षा वहाँ ली जा रही है। यह एक विशेष दर्शनीय चरित्र है। यदि आप पधारें तो आपके बहाने हम साधुओं को भी वहाँ के उत्सव का लाभ मिल जायेगा। वैसे तो हम सब जायेंगे ही क्यों, और क्षत्रियों के महायज्ञ में हम बाबा लोगों को पूछेगा ही कौन?" इस प्रकार सब कुछ समझाकर विश्वामित्रजी ने श्री राघवेन्द्र को मिथिलापुरी चलने के लिये तैयार कर लिया।

श्रीरघुनन्दन ने पूछा – "गुरुदेव! उस महायज्ञ का नाम क्या है?" नाम तो विश्वामित्र जी पहले ही मन में रख चुके थे, तुरन्त कह दिया कि "राघवेश! उस यज्ञ का नाम है – धनुष यज्ञ"। श्री रघुनन्दन ने कहा कि – "महामुने! मैंने कितने ही यज्ञों के नाम सुने परन्तु इस धनुष यज्ञ का नाम तो नहीं सुना।"

विश्वामित्र जी ने कहा – "इसीलिए तो कह रहा हूँ कि आप भी इसे चलकर देखें और आपके निमित्त से हम सभी लोग इसे चलकर देख लेंगे। श्रीदशरथ ने अपना अधिकार तो मुझे सौंप ही दिया है, मैं उन्हें सब समझा लूंगा।" बस फिर क्या था, महर्षि विश्वामित्र के समझाने से श्री रघुनन्दन के पिता ही इनकार न कर सके, तो फिर रघुनन्दन ही नाहीं कैसे करते?

धनुष यज्ञ सुनि रघुकुल नाथा।
हरषि चले मुनिवर के साथा॥

मार्ग में जाते महर्षि गौतम का आश्रम देख पड़ा। यह आश्रम सर्वथा शून्य था। यथा –

आश्रम एक दीख मग माहीं।
खग मृग जीव जन्तु तहँ नाहीं॥

इसी आश्रम में महर्षि गौतम ने अपनी पत्नी अहिल्या को देवराज इन्द्र के अनाचार के कारण शाप दिया था। जब से ऋषि पत्नी शापित हुई तभी से खग, मृग, जीव, जन्तु आदि सभी ने इस आश्रम को छोड़ दिया। इसका कारण यह जान पड़ता है कि जिस आश्रम में देवराज इन्द्र जैसा व्यक्ति भी महर्षि के शाप से शापित हो सकता है, तो फिर हम लोगों की गणना ही क्या है? और इन सभी को यह भी धारणा हुई कि यह आश्रम तो बहुत पवित्र था। महर्षि गौतम भी बहुत योग्य थे, परन्तु एक स्त्री के संसर्ग ने पति को दुखी किया, इन्द्र को शाप दिलवाया और आश्रम की पवित्रता भ्रष्ट कर दी। तो फिर ऐसी स्त्री के संसर्ग में हम लोगों को रहना उचित नहीं, इसलिए यहाँ कोई भी रहना पसन्द नहीं करता था। अहिल्या अकेले ही इस आश्रम में पाषाणी बनकर जीवन व्यतीत कर रही थी।

महर्षि विश्वामित्र पाषाणी अहिल्या एवं आश्रम से पूर्ण परिचित थे, परन्तु उन्होंने अपनी ओर से भगवान श्रीराम से आश्रम की और अहिल्या की कोई चर्चा नहीं की। उन्होंने सोचा कि अहिल्या का शापोद्धार तो श्रीराम से होना ही है। परन्तु मैं यदि स्वयं इस आश्रम की कथा कह कर श्री राघवेन्द्र का ध्यान आकर्षित करूँगा, तो यह तीसरा कार्य होगा जिसका भार मुझे सँभालना होगा और मैं दो आग्रह कर चुका हूँ। एक अपनी यज्ञ रक्षा का, और दूसरा धनुष यज्ञ दर्शन का। तो फिर यह तीसरा कार्य राघवेन्द्र स्वयं ही अपनी ही इच्छा से करें तो उत्तम होगा।

दूसरी बात महर्षि ने यह भी सोची कि राघवेन्द्र किसी पर कृपा करते हैं तो वहाँ सिफारिश की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि सिफारिश से किया हुआ काम अकारण अहैतुकी दयालुता का परिचायक नहीं होता। इसलिए यह दया तो इन की स्वेच्छा से ही होनी चाहिए।

श्री रघुनन्दन महर्षि के इस आशय को समझ गए, अतः –

पूछा मुनिहि सिला प्रभु देखी

रघुनन्दन ने भी सोच लिया कि उद्धार तो मुझे करना ही है, परन्तु जब तक महर्षि को निमित्त कारण न बना लूँगा तब तक नहीं करूँगा।

किसी भी जीव के उद्धार में भगवान् की कृपा, किसी आचार्य गुरु को निमित्त बनाने के लिए प्रयत्न करती रहती है। बिना आचार्य की सिफारिश के भगवान की इच्छा रहते हुए भी कृपा के कपाट बन्द ही रहते हैं। इसलिए पाषाणी को देख कर स्वयं ही महर्षि से पूछा कि "गुरुदेव यह आश्रम शून्य कैसा है? इतना रमणीक स्थल और यहाँ एक भी जीव जन्तु नहीं!" अब तो महर्षि को विवश होकर अहिल्या का शापोद्धार कराने के लिए कटिबद्ध होना ही पड़ा –

सकल कथा मुनि कहा बिसेषी।

कृपा करहु रघुबीर

आद्योपान्त अहिल्या के शापित होने की सम्पूर्ण कथा सुना गये, भगवान ने कथा सुन ली और अब महर्षि को सिफारिश करने के लिए विवश होना पड़े, इस दृष्टिकोण से कह उठे कि "ठीक है, चलिए आगे चलें।" महर्षि विश्वामित्र ने देखा कि मैंने जो सोचा था कि बिना मेरे आग्रह के यह कार्य हो जाय, वह होता दिखाई नहीं पड़ता। मन ही मन समझ गये कि कृपा करने की इच्छा तो भगवान् की है, परन्तु निमित्त कारण मुझे बनाना चाहते हैं। तत्काल बोल ही तो उठे कि –

गौतम नारी श्राप बस, उपल देह धरि धीर।
चरण कमल रज चाहति कृपा करहु रघुबीर॥

महर्षि – "प्रभो! यह गौतम की पत्नी है।"

श्रीराम – "वह तो आप सुना ही चुके।"

महर्षि – "पाषाणी होकर तपस्या कर रही है।"

श्रीराम – "यह भी देख ही रहा हूँ।"

महर्षि – "आपके चरण की रज चाहती है।"

श्रीराम – "यह तो आपका उचित प्रस्ताव नहीं है, क्योंकि यह ब्राह्मणी है और मैं क्षत्रिय हूँ। भला इसे चरण रज कैसे दूँ?"

विश्वामित्र – "ऋषि ने शाप ही ऐसा दिया है कि आपकी चरण रज से ही उद्धार होगा। यदि आप ऐसा न करेंगे तो ऋषि–वाक्य असत्य होगा, और यदि आप ही ऋषि के वाक्य को असत्य करने लगे तो सत्य कौन करेगा? साथ ही और भी अनेक ऋषियों के वाक्य झूठे हो जायेंगे। देवताओं को भी यह शंका होगी कि कहीं ब्रह्मा के वाक्यों को भी आप असत्य न कर दें!"

श्रीराम – "तो चरण स्पर्श न करके कर स्पर्श से उद्धार कर दूँ?"

विश्वामित्र – "पर स्त्री का कर–स्पर्श कैसे कर सकते हैं? पतिता तो है ही, आप इसका कर स्पर्श करेंगे तो संसार की कटूक्तियों से बच जायेंगे?"

श्रीराम – "तात्पर्य तो स्पर्श से ही है न? यदि मेरे स्पर्श से ही इसका उद्धार हो सकता है तो अपना मस्तक ही चरणों में क्यों न डाल दूँ?"

विश्वामित्र – "उद्धार करने का जिसका कार्य है वही कर सकता है। अधम जनों का उद्धार सज्जनों की चरण-रज से होता है, मस्तक से नहीं। बाण को किसी के चरणों पर झुकाकर मस्तक काटने के प्रयोग में नहीं लिया जाता। इसके शाप का मस्तक काटने के लिए आपकी श्री चरण-रज ही बाण है।"

श्रीराम – "कैसी भी है, परन्तु पूज्या है।"

विश्वामित्र – "यह सत्य है, परन्तु आपका यह चरण-स्पर्श नारी जाति को सचेत कर देगा कि जिन स्त्रियों को पति आदर नहीं देता उन्हें साक्षात् भगवान ही पैरों का पात्र समझते हैं।"

श्रीराम – "कुछ भी हो इसे चरणों से स्पर्श करना धर्म विरुद्ध तो है ही।"

विश्वामित्र – "मान लीजिए किसी ब्राह्मण के शरीर में कोई नस पीड़ा कर रही हो और ब्राह्मण के प्राण जा रहे हों तथा उस नस की पीड़ा दूर करने का उपाय किसी क्षत्रिय के पदाघात में हो, तो पीड़ा दूर करना धर्म है अथवा वर्ण विचार के द्वारा उस ब्राह्मण को मरने देना धर्म है? शाप की पीड़ा इस ब्राह्मणी को कष्ट दे रही है और उसकी औषधि आपकी श्रीचरण-रज है। तो फिर वर्ण धर्म का विचार कर, क्या इस ब्राह्मणी की मृत्यु हो जाने देंगे?"

श्रीराम – "मैं तो बड़े असमञ्जस में पड़ गया हूँ कि क्या करूँ?"

विश्वामित्र – "श्री रघुनन्दन! मैं तुम्हें एक और गम्भीर विचार दे रहा हूँ। किसी भी पतित प्राणी को उत्तम बना देना धर्म है। यदि किसी को उत्तम बनाने में अपने ऊपर पाप-शाप-तापादि के भार लद भी जायें, तो भी उन्हें सहन करके दूसरे का उद्धार कर देना ही परोपकार कहलाता है। इसलिए यदि इससे चरण-स्पर्श कराने में तुम्हारे सर पर अधर्म का भार भी हो जाय, तो भी तुम उसे सहन करके इसका तो उद्धार कर ही दो। देखिये! भगवत् प्रतिमा पर शस्त्र चलाना पाप है, परन्तु वही प्रतिमा यदि पृथ्वी के भीतर दब गई हो और कुदाल चलाकर उस प्रतिमा को निकाला जाय (उद्धार किया जाय) तो वह अधर्म नहीं, धर्म कहलायेगा।

कारीगर पाषाण की मूर्ति बनाता है, उस पर बैठता है, पाँव भी रखता है और औजार भी चलाता है; परन्तु जब उस मूर्ति का निर्माण हो जाने पर प्राण-प्रतिष्ठा हो जाती है तो वही कारीगर उसको साष्टांग प्रणाम करता है। यह पाषाणी है, प्राण-शून्य है, प्राणपति शून्य है, जीवन शून्य है। पद-पंकज पराग देकर इसकी प्राण-प्रतिष्ठा कर दो। फिर ब्राह्मणी समझ कर प्रणाम करना। माता पूज्या होती है, बालक माता की गोद में बैठता है, सर पर चढ़ता है, पाद प्रहार भी करता है। क्या श्री कौशल्या अम्बा के ऊपर आपके यह चरण कभी न पड़े होंगे? यदि पड़े हैं तो उसी पूज्य भाव से इस पाषाणी को भी चरण स्पर्श कराकर उद्धार करो। प्रधानता तो भाव की होती है कर्म की नहीं। तुम इसे चरण रज दोगे तो इसे अपमानित करने के भाव से नहीं, अपितु शाप-मुक्त करने के भाव

से दोगे। तो इतने बड़े पुण्य कार्य में पाप कैसा? और भी एक अन्तिम विचार यह है कि स्त्री का वर्ण पति से होता है, जब तक पति नहीं होता तब तक स्त्री का वर्ण भी नहीं होता। महर्षि गौतम ब्राह्मण हैं यह उनकी पत्नी है, परन्तु पति के द्वारा शापित होने से (पति विहीना होने से) इस समय वर्ण रहिता है, श्री चरण रज देकर इसे सचेत करो। महर्षि गौतम से इसका मिलाप करादो, यह पति से मिलते ही ब्राह्मणी हो जायगी; और तुम इसे प्रणाम कर लेना। और यदि तुम्हें इसका उद्धार करना ही नहीं था तो फिर मुझसे पूछा ही क्यों था? मैं तो बिना कुछ कहे ही आगे बढ़ रहा था, परन्तु तुम्हीं ने तो पूछा – **मुनिहिं शिला प्रभु देखी** – मुझसे साग्रह प्रश्न किया, इसीलिए मैंने भी – **सकल कथा ऋषि कही विशेषी** – इसकी सम्पूर्ण कथा तुम्हें सुना दी। अब इसका उपसंहार तुम्हारे श्री चरण रज में है, उसे न देकर व्यर्थ में मुझे भी दोषी बनाओगे और स्वयं भी बनोगे। इसलिए – कृपा करहु रघुबीर।"

गौतम नारी शाप वश, उपल देह धरि धीर।
चरण-कमल रज चाहति, कृपा करहु रघुबीर॥

जिस प्रकार जीव अपने ऊपर कृपा करने वाले को ढूँढ़ा करता है, उसी प्रकार प्रभु भी कृपा जिस पर की जा सके, ऐसे जीव की तलाश में रहते हैं। वैसे तो –

अखिल विश्व यह मोर उपाया।
सब पर मोरि बराबर दाया॥

है ही; फिर भी –

सोइ मम सेवक प्रिय सम सोई।
मम अनुसासन मानै जोई॥

के अनुसार कृपा करने के लिए पात्र की खोज रहती है, जब पात्र मिल जाता है तो कृपा करने में देर नहीं होती। यद्यपि भगवान् अन्तर्यामी तो हैं ही, सबकी सब कुछ जानते हैं, परन्तु उन्हें स्मरण दिलाने वाले,

और अपने द्वारा पेश किये गये जीवों का पात्रत्व समझाने वाले, आचार्य हुआ करते हैं। अब यह जीव के भाग्य की बात है कि उसे उत्तमोत्तम आचार्य मिल जाय या साधारण। यदि हम चाहें तो वकील के लक्षणों का साम्य आचार्य से कर सकते हैं। वकील भी यदि मुवक्किल को बढ़िया मिल गया तो जज को थोड़ी ही देर और थोड़े ही शब्दों में सब कुछ समझा देगा। यदि साधारण मिला तो बहुत देर लगेगी, फिर भी निश्चय नहीं कि जज समझ भी सकेगा या नहीं।

यहां श्री विश्वामित्र जी के आचार्यत्व पर विचार करने से, श्री गोस्वामी जी की वर्णन-शैली का अधिक आनन्द मिल सकेगा। पहले तो महर्षि ने लापरवाही दिखाकर यह समझ लेना चाहा कि श्री राघवेन्द्र स्वयं भी किसी दीन को देख लेते हैं या सिफ़ारिश की आवश्यकता होगी। जीव को ब्रह्म-दर्शन कराने का तो प्रयास किया जाता है, परन्तु ब्रह्म को जीव-दर्शन कराने का प्रयत्न नहीं होता, इस नीति का भी पालन करके आपने अपनी ओर से अहिल्या का कोई परिचय न दिया। जब स्वयं ही – "शिला प्रभु देखी" – तो – "सकल कथा ऋषि कही बिशेषी" – पूरी कथा कह कर परिचय समझा दिया। जब परिचय मिल गया तो श्री राघवेन्द्र चुप हो गये, और सोचने लगे कि अहिल्या का आचार्यत्व विश्वामित्र ने स्वीकार कर लिया हो तो इन्हीं के द्वारा इसकी सिफ़ारिश होनी ठीक है। प्रभु की इच्छा तो जीव के उद्धार की है, परन्तु स्वयं तो कुछ कर नहीं सकते। किसी निमित्त से ही कुछ कर सकेंगे। महर्षि ने देखा कि कृपा करने की इच्छा तो है, और अहिल्या इसकी पात्री भी है, परन्तु इसके पात्रत्व को समझाये बिना काम न चलेगा। इसलिए आप बिना वकालतनामा लिखाये ही वकालत करने लगे, आपने सोचा कि श्री राघव को प्राप्त करने के लिए मैंने भी काफी प्रयत्न किया था, परन्तु मिल नहीं रहे थे। उस समय श्री महर्षि वसिष्ठ ने भी तो बिना वकालतनामा लिखाये ही मेरी वकालत शुरू कर दी, और राम मुझे मिल गये। शायद इस दरबार में वकालत नामे की पाबन्दी नहीं होती, योग्य वकील का यह कर्तव्य होता है कि वह स्वयं ही दोनों की वकालत अपने आप करे। यथा –

नारद देखा विकल जयन्ता।
लागि दया कोमल चित सन्ता॥

उन्होंने भगवान् श्री राम को समझाना प्रारम्भ किया कि –

कृपा करहु –

प्रभो! इस पर कृपा कीजिए। आप "विप्र धेनु सुर सन्त हित" यहाँ आये हैं, और यह सन्त महर्षि की पत्नी कष्ट पा रही है। और महर्षि गौतम ने भी इसे दण्ड तो दे दिया, परन्तु कष्ट वह भी इसके वियोग का सहन कर रहे हैं। इसलिए महर्षि पत्नी होने के नाते उद्धार का पात्रत्व है। शापवश महर्षि ने इसे त्याग दिया है, आप इसे गौतम से मिला दें। यह संसार कर्मक्षेत्र है – जो जैसा करता है, उसे वैसा ही फल प्राप्त होता है। आप शाप मुक्ति देकर यह सुन्दर जोड़ा मिला दें। आप जिस धनुष को देखने जा रहे हैं वह भी शापित है, बज्र है। आप इस शापिता का उद्धार करके पति से इसे मिला दें, तो सम्भव है कि वह शापित कोदण्ड भी अपने प्राण त्याग कर आपका भी जोड़ा मिला दे।

उपल देह –

तप करते करते पाषाणवत् शरीर हो गया है। अर्थात् पूर्ण प्रायश्चित्त कर चुकी है। इसकी तपस्या से ही इसका उद्धार हो जाना चाहिए, परन्तु मैं तो चाहता हूँ कि यह अनायास यश आपको ही मिले तो अच्छा है।

धरि धीर –

इसका धैर्य तो देखिये? दूसरी कोई स्त्री होती, तो पति से त्यक्त होने पर अपनी स्वतन्त्रता से पिता के यहाँ, या और कहीं स्वेच्छा पूर्वक रह लेती। परन्तु यह इतने तीव्र शाप से शापित होकर भी, और अनेक भीषण कष्ट सहकर भी, अपने पति गौतम से ही मिलने की आशा से जीवित है। क्या धैर्य धारण करने वाले पर भी आपकी कृपा नहीं होगी?

चरण कमल रज चाहति –

इसे पतिता शापित समझकर –

खग मृग जीव जन्तु तहँ नाहीं।

सभी ने त्याग कर दिया है, इसके पास तो क्या, इसके आश्रम तक में यह सब नहीं रहते। अब यदि आप जैसा परम पवित्र मर्यादा पुरुषोत्तम अधमोद्धारक, इसके आश्रम में, इसकी कुटी में इसके पास बैठे, दर्शन दे, आश्वासन दे – तो खग, मृग, जीव, जन्तु सभी इसके पास आ जायँगे। उनके हृदय से घृणा का भाव दूर हो जायगा। अतः अपने आश्रम और कुटी में आपके चरण-कमल की रज डलवाना चाहती है, और आपकी उस परोपकारिणी पवित्र चरण रज को मस्तक पर धारण करना चाहती है। जो जीव –

१. पवित्र जीव है

२. किसी कारण से भूल कर बैठा, शापित हो गया

३. पाषाणवत् तपश्चर्या से पश्चात्ताप भी कर चुका है

४. अनेक आपत्तियों के पड़ने पर भी धैर्य धारण किए है – विचलित नहीं होता।

ऐसा ही जीव तो कृपा का पात्र है! इसलिए –

कृपा करहु रघुबीर –

इस दोहे में महर्षि विश्वामित्र ने अहिल्या के पात्रत्व सिद्ध करने के लिए मुख्य पाँच इङ्गित दिये। गौतम नारी – गौतम महर्षि की पत्नी है। और आपने – बिप्र धेनु, सुर, सन्त, हित लीन्ह मनुज अवतार – यह सन्त पत्नी है इसलिए दया की पात्री है।

शाप वश –

इसकी यह दशा स्वेच्छा से नहीं, शापवश हुई है। जो विवशावस्था में कष्ट भोग रहा हो उस जीव का उद्धार करना ही कर्तव्य है। मोह में, भ्रम में तो सभी जीव पड़े रहते हैं, वे चाहें तो अपने उद्धार का प्रयत्न

स्वयं भी कर सकते हैं। परन्तु जो शाप बद्ध जीव हैं, वे स्वयं मुक्त कैसे हो सकते हैं? उन पर तो आप को ही दया करनी होगी। इसलिए इस पर कृपा कीजिए।

उपल देह धरि –

शापवश (बन्धन में पड़ी हुई) है, फिर भी शरीर को तीव्र तपस्या से पाषाणवत् बना लिया है। जिसने परवश होकर भी आपकी चरण रज प्राप्त करने के लिए इतनी कड़ी तपस्या की हो, वह निश्चित उद्धार की पात्री है। इसीलिए – "कृपा करहु रघबीर।"

धरि धीर –

शाप के बाद यदि स्वात्माभिमान से काम लेती, तो स्वयं भी स्वतन्त्रता से रह सकती थी। ब्रह्मा की पुत्री है, ब्रह्मा ऐसे समर्थ हैं कि शापित त्रिशंकु के लिये नया इन्द्र लोक निर्माण कर सकते हैं। अपनी पुत्री के लिए भी नया निर्माण करके उसमें बसा सकते थे। परन्तु इसने ऐसा नहीं किया। न स्वतंत्र रही, न पिता के गृह गई। अपितु धैर्य धारण किए, पति-शाप के दिन इसलिए व्यतीत करती रही कि कभी तो वह दिन आयेगा जब श्री राघव के दर्शन से शाप मुक्ति होगी; तो पुनः अपने प्रियतम पति से मिल सकूंगी। इतने धैर्य से जो पति प्राप्ति का साधन कर रही है, वह तो विशेष दया की पात्री है। सती जी ने भी तो अधीर होकर पति वियोग सहन न कर सकने पर, कह दिया था कि – "छूटहू बेगि देह यह मोरी" और आपने उनकी प्रार्थना स्वीकार करके देह छुड़ा कर, गिरि सुता रूप में प्रकट हो जाने पर, स्वयं शंकर से कहा कि –

अब बिनती मम सुनहु सिव जौं मो पर निज नेहु।
जाइ बिबाहु सैलजहि यह मोहि मागें देहु॥

सती जी का भी यह धैर्य था कि –

जन्म कोटि लगि रगर हमारी।

बरउँ संभु न त रहउँ कुआरी॥

उनके धैर्य पर ही तो प्रसन्न होकर आपने शंकर को उनसे विवाह करने पर विवश किया। यही सोचकर गौतम जी ने भी इसे शाप दिया कि श्रीराम जी तुझे मुझसे मिला सकेंगे। क्योंकि जो इतनी धैर्यशालिनी नारी होती हैं, उन्हें वे अवश्य उनके पति से मिला देने का प्रयत्न करते हैं। आज वह धैर्य का प्रत्यक्ष ढाँचा आपके सामने उपस्थित है, अतः इसे इसके पति से मिला देने के लिए – "कृपा करहु रघबीर।"

चरण कमल रज चाहती –

आपसे अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष – कुछ भी नहीं माँगती। केवल वह वस्तु माँगती है कि जो आप बिना माँगे ही, पथ पर पड़े कीट पतङ्गों को भी पद यात्रा करते करते लुटाते फिरते हैं। जबकि अनावश्यक (श्री चरण रज) साधारण से साधारण जीवों को भी मिल जाने पर आप कुछ नहीं कहते, तो यह तो चाहती है। क्यों नहीं कृपा करेंगे? अवश्य – "कृपा करहु रघबीर।"

भगवान पति हैं, जीव नारी है। कर्मों के शापवश होकर – उपल देह – यह जड़ शरीर धारण करके भी, सभी प्रकार की परिस्थितियों के वातावरण (सुख-दुख) सहन करते हुए भी, धैर्य से भगवान् के श्री चरण रज प्राप्त करने की कामना करता रहता है। उस जीव का भगवान स्वयं उसके पास पहुँचकर उद्धार कर देते हैं। और विश्वामित्र से परोपकारी आचार्य, उस की सिफारिश भी पूरी शक्ति से करते हैं जिससे भगवान को विवश होकर बिना कुछ विचारे ही कृपा कर ही देनी पड़ती है। यही इस प्रसंग का मुख्य ग्रहणीय अंश है।

गो – इन्द्रियाँ, इनका तम, अन्धकार स्वरूप – जीव इसकी नारी बुद्धि, शापवश – अहंकार के वशीभूत होकर।

उपल देह धरि –

जिसने कुसंग वश जड़ता धारण कर ली है, जब कभी धैर्य धारण

करके अपनी दशा पर पश्चात्ताप करते हुए प्रभु के चरण कमल रज की चाहना करने लगती है, तभी श्रीरघुवीर कृपा कर देते हैं। सच पूछिए तो ऐसे ही जीव दया और कृपा के पात्र होते हैं। साधन सम्पन्न तो कृपा के पात्र बनेंगे ही कैसे, उन्हें तो साधनों से मुक्ति मिलती जायगी। प्रभु कृपा यदि उन पर की जाय, तो उस कृपा का कुछ अहसान नहीं।

जनहि मोर बल निज बल ताही –

साधन सम्पन्नों को तो अपने साधनों का, ज्ञान का निज बल है ही। जहाँ अखण्ड धन राशि एकत्रित हो, वहाँ थोड़ा धन-दान क्या महत्व रक्खेगा? प्यासे को पानी की बूँद न देकर, समुद्र को जल स्नान कराने का क्या अर्थ है? अन्धकारपूर्ण गृह में दीपक न जला कर, सूर्य को दीपक दिखाना कहाँ तक उचित है? भगवान विचारवान् हैं, वह अपनी कृपा का पात्र ढूँढ़ा करते हैं। तभी तो श्रीयामुनाचार्य जी कहते हैं कि –

त्वयापि लब्धं भगवन्निदानीमनुत्तमं पात्रमिदं दयायाः ॥

अर्थात् आपको भी मैं दया का उत्तमोत्तम पात्र मिल गया हूँ। क्योंकि मुझे दया की आवश्यकता है, और आपको अपने दया के पात्र की। नहीं तो जिसे आपकी दया की आवश्यकता न हो, उसे आप दया दे दें, तो समझिए वह दया आपने अनुचित पात्र में दे दी। अहिल्या सर्वदा दया की पात्र हो चुकी हैं।

"साधन हीन, दीन, निज अघवश, शिला भई मुनि नारी" – यह पात्रत्व है। अत: –

गृह ते गवनि परसि पद, पावन घोर शाप ते तारी।
ऐसे राम दीन हितकारी।

इसलिए श्री विश्वामित्र जी ने साग्रह प्रार्थना की कि – "कृपा करहु रघुबीर।"

प्रश्न यह है कि गौतम नारी से अपकर्म तो बन ही गया है, अब

यह कैसी भी क्यों न हो जाय, पति तो ग्रहण करेंगे नहीं। अतः विश्वामित्र जी कहते हैं कि – "भगवन्! इसने पापवश उपल देह नहीं धारण की है, यह तो शापवश उपल देह है। तात्पर्य – पाप तो इन्द्र का था, उसे तो वैसा फल मिल गया। परन्तु अनजाने में दुष्कर्म बन गया है। और किंचित् अपराध इसका यह भी है कि समझ लेने पर भी कि इन्द्र देवराज है, इसकी हत्या न हो, अथवा पति मुझसे रुष्ट न हों – इस विचार से इन्द्र को इसने छिपा दिया। यह अपराध इससे अवश्य बन गया है। अतः गौतम महर्षि ने इसे पापवश पापयोनि आदि में नहीं भेजा, इसे शाप दिया कि इतने दिनों तक पाषाणी होकर तू तपस्या कर, पश्चाताप कर, तो तेरा उद्धार हो जायगा। अर्थात् तू मेरे ही पास पुनः आ जायगी। इसलिए यह शापवश तपश्चर्या के लिए और प्रायश्चित्त के ही लिए उपल देह है। यदि आप इस पर कृपा कर देंगे तो श्री गौतम जी इसे स्वीकार कर लेंगे। अतः – "कृपा करहु रघुबीर।"

परसत पद पावन सोक नसावन

परसत पद पावन सोक नसावन
प्रगट भई तप पुंज सही।

शोक का नाश करने वाले पावन पदों का स्पर्श होते ही – सही तप पुंज अहिल्या प्रगट – हुई। पति वियोग के शोक को नाश करने वाले और पति शाप से मुक्त करने वाले, पवित्र पदों का पावन स्पर्श हुआ। जहाँ श्री राघवेन्द्र के चरण पड़ते हैं वहाँ शोक, मोह, भ्रम तथा पाप सभी नष्ट हो जाते हैं, इसीलिए श्री लक्ष्मण जी ने कहा है –

जातें होइ चरन रति सोक मोह भ्रम जाइ।
भयेउ कुसल पद पंकज देखे॥
अब मैं कुसल मिटे भय भारे।
देखि राम पद कमल तुम्हारे॥

तात्पर्य यह है कि जिन पदों को देखकर ही मनुष्य समस्त क्लेशों से निवृत्ति पा जाता है, उन पदों के स्पर्श करने से तो शोक और पाप रह ही कैसे सकते हैं। यहाँ "परसत" शब्द को देकर के, गोस्वामी जी ने कुछ विलक्षण सी बात कही है। परसत शब्द का अर्थ दो प्रकार से होता है । स्पर्श करते ही या स्पर्श होते ही। विश्वामित्र जी जब कह रहे हैं कि "कृपा करहु रघुबीर" अर्थात् आप चरणरज देने की कृपा कीजिए, तो फिर अहिल्या चरण स्पर्श करे यह अर्थ नहीं बनता, अर्थ तो यहाँ दूसरा ही सिद्ध होगा कि शोकनशावन पावन पदों के स्पर्श होते ही। और यह पावन पद स्पर्श हुआ कैसे? इसका कोई मूल कारण समझ में नहीं आता, मूल कारण का यहाँ वर्णन नहीं है। विश्वामित्र जी कहते हैं कि चरणरज दीजिए, और चरण स्पर्श होते ही तप पुञ्ज ऋषि पत्नी प्रकट हो गई।

दूसरा शब्द है – "प्रगट भई" – अर्थात् अहिल्या पाषाण नहीं थी, पाषाण से आवृत्त थी। इसलिए पवित्र पद का स्पर्श होते ही पाषाण खण्ड से प्रगट हो गई।

तीसरा शब्द है – "तप पुञ्ज" – यदि अहिल्या पापिनी है, तो उसे तप पुंज विशेषण कैसा? इसलिए ज्ञात होता है कि अहिल्या ने इतने दिन पति शाप के पश्चात्ताप में नहीं काटे, अपितु भगवद् दर्शन की उत्कण्ठा में तपश्चर्या करके दिवस बिताए हैं। पश्चात्ताप में यह दिन बीते होते, तो तप पुंज विशेषण न दिया जाता।

चौथा शब्द यह है – "सही" – तात्पर्य यह कि तपस्या सही भी होती है और ग़लत भी। जो सांसारिक वैभव आदि प्राप्त करने के लिए तपस्या की जाती है, वह तपस्या राजसी हो या तामसी, दोनों ही प्रकार से ग़लत है। जैसे रावण ने बड़ी तपस्या की, फिर भी माँगा यह कि "हम काहू के मरहिं न मारे।"

कुम्भकर्ण ने बड़ी तपस्या की पर माँगी – "नींद मास षट केरी।" तपस्या तो इन दोनों की ही बड़ी हुई, पर हुई ग़लत। सही तपस्या तो विभीषण की हुई, जिसने – "माँगेउ भगवन्त पद कमल अमल अनुराग।" यही बात श्री भरद्वाज जी भी कह रहे हैं कि –

आज सुफल तप तीरथ त्यागू।
आज सुफल जप जोग विरागू॥
सुफल सकल सिधि साधन साजू।
राम तुमहिं अवलोकत आजू॥

इसीलिए यदि भगवत् दर्शन के अतिरिक्त किसी और कामना से अहिल्या की तपस्या हुई होती, तो तपपुंज तो कहते पर "तपपुंज सही" न कहते, तपपुंज सही कहने का आशय यही है कि यह तपस्या केवल भगवद्दर्शनार्थ है। इसीलिये :-

देखत रघुनायक जन सुखदायक,
सनमुख होइ कर जोरि रही॥

जिनके लिये तपस्या की गई थी, वह जन सुखदायक, भक्तवत्सल भगवान श्री रामचन्द्र जी सामने खड़े हैं, यह देखकर हाथ जोड़े हुए खड़ी की खड़ी ही रह गई।

एकाएक अपनी तपस्या की पूर्ति पर, भगवद् मूर्ति का दर्शन करके, अहिल्या के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। जैसे किसी महारंक को लक्ष्मी का मन्त्र सिद्ध करने को कहा जाय, और वह अनेक वर्षों तक महालक्ष्मी की उपासना करता रहे। फिर एक दिन अचानक सोते ही सोते स्वप्न में उसे दिखलाई पड़े कि अनन्त धन राशि मेरे सामने उपस्थित है, और जब अचानक उसकी निद्रा भंग हो जाये तो प्रत्यक्ष में भी वही धनराशि उसे दिखलाई पड़े, तो उसे कुछ सूझ समझ नहीं पड़ता है कि मैं क्या करूँ। उसे विश्वास भी नहीं होता कि वास्तव में मेरा मन्त्र सिद्ध हो गया है। जब थोड़ी देर तक अपना होश सम्भाल कर, यह निश्चय कर लेता है कि वास्तव में यह मैं स्वप्न नहीं देख रहा हूँ - मेरी मन्त्र सिद्धि हो ही गई है - तब महालक्ष्मी की प्रार्थना अभ्यर्थना करता है। इसी प्रकार अहिल्या भी अपने तप की सिद्धि श्री राम-रूप को देखकर, स्वप्न से जागी हुई के समान किंकर्तव्यविमूढ़ हो गई, इसलिए अपना होश सम्भालने लगी।

धीरजु मन कीन्हा प्रभु कहुँ चीन्हा

रघुपति कृपाँ भगति पाई।
अति निर्मल बानी अस्तुति ठानी
ग्यानगम्य जय रघुराई॥

अति प्रेम अधीरा –

प्रेमी का, अलभ्य प्रिय वस्तु प्राप्त होने पर धैर्य छूट जाता है और वह इस व्याकुलता में पड़ जाता है कि मैं इस प्रिय वस्तु के लिए क्या करूँ, कहाँ रक्खूँ और किस प्रकार से इसे संतुष्ट कर सकूँ? इन विचारों के उत्पन्न होने पर, किसी प्रकार भी विचार को जब वह पूर्ण नहीं कर पाता है तो यह सभी उद्वेग उसके प्रत्येक रोम से निकलने की आकांक्षा रखते हैं। इसी से शरीर में रोमाञ्च और पुलकावलि होती है। अहिल्या भगवान के अलभ्य दर्शनों का लाभ पाते ही यह सोचने लगी कि इन्हें कहाँ बैठाऊँ, इनके प्रति क्या करूँ, इन्हें कैसे सन्तुष्ट करूँ? इन तीनों विचारों की पूर्ति का कोई साधन उसे न देख पड़ा – "अति प्रेम अधीरा।" अधीर हो गई और उसके उपरोक्त विचार अन्तर्मुखी होकर उसके रोम-रोम से निकलने की चेष्टा करने लगे। इसलिए – "पुलक शरीरा" – शरीर रोमाञ्चित और पुलकित हो गया। और जब उन विचारों ने, प्रति रोम से अपने भावों को व्यक्त करने की चेष्टा की, तो यह मानना पड़ेगा कि रोमावली के सहस्रों मुख अपनी वाणी प्रस्फुटित करने लगे। यही कारण है कि अनेकों मुखों से अपना सुप्रयोग देखकर, केवल एक की वाणी ने मौन धारण कर लिया। अतः – मुख नहिं आवे बचन कही – मुख से वाणी नहीं निकल सकी। इसीलिए गोस्वामी जी ने स्नेह के प्रथम दर्शन की तीन पद्धतियाँ क्रमशः वर्णन की हैं – पहले अति प्रेम से अधीर हुई और जब निष्क्रिय हो गई, तो पुलक शरीर हुई और जब प्रत्येक रोम से यह विह्वलता बोल उठी, तो शब्दों की अभिव्यक्ति में मुख असमर्थ हो गया। नहीं तो, **अतिप्रेम अधीरा** के स्थान पर **पुलक शरीरा** फिर **प्रेम अधीरा** और फिर **मुख नहिं आवै बचन कही** कह सकते थे। इस वर्णन से गोस्वामी जी केवल शब्द संयोजक ही नहीं, अपितु सप्रेम भगवद् दर्शन के प्रत्येक लक्षणों के अनुभवी भी थे, ऐसा प्रतीत होता है।

अतिशय बड़भागी –

अधीरावस्था, पुलकावली और मौन – इन तीनों का सीमोल्लङ्घन हो गया, तो चतुर्थ सक्रियता यही हो सकती थी कि शरीर शिथिल होकर चरणों का आश्रय ले ले। और वह समस्त सात्विक विह्वलताएँ, द्रवित होकर नेत्रों की अश्रुजल सरिता का रूप धारण कर, भगवच्चरणारविन्दों का प्रक्षालन करने लगीं। अतः – "चरनन्हि लागी युगल नयन जलधार बही।"

अलौकिक अतिथि आया है, अपने आश्रम पर आया है, महान् गुरुतर उपकार किया है। इधर अनेक वर्षों से पाषाणी तप कर रही है, न किसी वस्तु को स्वयं उपयोग में लाती और न किसी के सत्कार की उसे आवश्यकता अथवा आकांक्षा है। परन्तु आज इस अचानक आये हुए अतिथि का तो सत्कार करना ही पड़ेगा, और प्रथम सत्कार पाद प्रक्षालन ही होता है। इसलिए प्रेम की मानसी गंगा प्रकट करके, भगवान श्री रघुनन्दन अतिथि के चरणों को धोने लगी।

किसी गृह में कई कोठरी हैं, उन कोठरियों में व्याल, मूषक, वृश्चिकादि अपना स्थान बनाकर बैठे हुए हैं और उस गृह के बीच में कोई तपस्वी तपसाधन कर रहा है। उसके तप तेज से वह जीव बाहर निकलते नहीं। अचानक किसी दिन जल वृष्टि करने वाले बादलों ने उस मकान पर ही घनघोर वर्षा की। उस वर्षा के जलप्रवाह में वे कोठरियों में बसे जीव बाहर आ गये और वह जल उन जीवों के समेत बहकर बाहर निकल गया। गृह उन कुटिल जीवों से रहित होकर, उस तपस्वी के सदुपयोग में आने योग्य हो गया।

अहिल्या के हृदय प्रांगण में जीव तपस्वी तप में मग्न था और शोक, मोह, भ्रम आदि अपना अपना स्थान बनाकर बस रहे थे। तप तेज प्रभाव से हृदय देश में आ नहीं सकते थे। परन्तु यदि किसी भी समय जीव तपस्वी का तप प्रकाश क्षीण हो जाता, तो इन कुटिल जीवों को हृदय प्रांगण में विहार करने की स्वतन्त्रता मिल सकती थी। मेघ स्वरूप भगवान श्यामसुन्दर ने अपनी घनघोर कृपाजल वृष्टि द्वारा अहिल्या के

हृदय देश को परिप्लावित कर दिया। जिससे अंतरिक्षान्तरिक्ष स्थानों में भी जो शोक, मोह, भ्रम आदि कुटिल जीव बस रहे थे, वह उस कृपाजल में उतर कर नेत्र नलिकाओं से निकलने लगे। अतः – "जुगल नयन जलधार बही" अर्थात् पाषाणी के हृदय देश को कृपावारिधर श्री राघवेन्द्र ने सर्वतोभद्रेण स्वच्छ कर दिया और जब शोक, मोह, भ्रम आदि से हृदय निर्मल हो गया तो "धीरज मन कीन्हा प्रभु कहँ चीन्हा रघुपति कृपा भगति पाई।"

जब हृदय देश से शोक, मोह, भ्रम आदि दूर हो जाते हैं, तभी धैर्य प्राप्त होता है और जीव प्रभु को पहचान लेता है। तब प्रभु अपनी विशेष कृपा करते हुए उसे निष्काम भक्ति प्रदान करते हैं।

अतिशय बड़ भागी –

श्रीरामचरितमानस में केवल पाषाणी की ही उपाधि दी गई है। भाग्य के सम्बन्ध में केवल भागी शब्द का प्रयोग कदाचित "मानस" में नहीं है। बड़भागी शब्द का प्रयोग अनेक स्थलों पर है और भगवत् सम्बन्ध में तो उन्हीं स्थलों पर है जहाँ कि भगवत् प्रेमियों ने भगवत् आश्रय प्राप्त करने का प्रयत्न किया है या प्राप्त किया है। यथा श्री दशरथ जी को "सत्य प्रेम जेहि राम पद" कहा गया है। इसलिए वसिष्ठ जी कहते हैं –

सब प्रकार भूपति बड़भागी।
वादि विषाद करिअ तेहि लागी॥

भगवान श्री रघुनन्दन के चरणों पर पड़े हुए सुतीक्ष्ण को देखकर कहते हैं कि –

परेउ लकुट इव चरनन्हि लागी।
प्रेम मगन मुनिवर बड़भागी॥

सुग्रीव जी सेना को राम काज के लिए भेजते समय सचेत कर रहे हैं कि –

सोइ गुनग्य सोई बड़भागी।

जो रघुबीर चरन अनुरागी ॥

सुवेल झाँकी के समय –

बड़भागी अंगद हनुमाना ।
चरण कमल चापत बिधिनाना ॥

श्री भरत जी अवध में लक्ष्मण का संस्मरण करते हुए कह रहे हैं कि –

अहह धन्य लछिमन बड़भागी ।
राम पदारविन्द अनुरागी ॥

आदि आदि कितने ही स्थलों में बड़भागी शब्द का प्रयोग उनके प्रति किया गया है जो श्रीरामपादारविन्दाश्रयी हुए हैं। परन्तु पाषाणी को अतिशय बड़भागी की उपाधि क्यों दी गई ?

इसका तात्पर्य यह जान पड़ता है कि जिन जिन भाग्यवन्तों ने भगवान के चरणों को प्राप्त करने का संकल्प, प्रयत्न और परिश्रम किया है वे बड़भागी हैं। परन्तु अहिल्या ने तो इन चरणों के लिए न कोई संकल्प किया, न प्रयत्न किया और न परिश्रम ही किया। गौतम के शाप में ही चरण दर्शन का आकस्मिक आशीर्वाद मिल गया है। और वह भी इस सम्मान पूर्वक कि अयोध्या से सिद्धाश्रम तक किसी सवारी पर नहीं, पैदल यात्रा करते हुए अहिल्या को कृतार्थ करने के लिए ये चरण आ पहुँचे हैं। यदि गम्भीर विचार से देखें तो अहिल्या ने तो इन चरणों के लिए संकल्प, प्रयत्न, परिश्रम, तीनों ही नहीं किए परन्तु इन श्री चरणों ने अहिल्योद्धार के लिए संकल्प भी किया, प्रयत्न भी किया और परिश्रम भी किया। इसलिए सभी बड़भागियों से बढ़कर अतिशय बड़भागी का व्यक्तित्व अहिल्या को ही सिद्ध होता है। अतः गोस्वामी जी ने अतिशय बड़भागी कहा।

प्रभु कहँ चीन्हा –

अहिल्या विचार करने लगी कि पतिदेव के शापानुग्रहानुसार इनके

दर्शन तो मिल गए, परन्तु इन चरणों की भक्ति तो मुझ अपावन नारी को क्या मिल सकेगी। फिर भी "प्रभु कहँ चीन्हा" अर्थात् प्रभुता सम्पन्न प्रभु को पहचाना कि सुर योगी वृन्द दुर्लभ दर्शन अकारण ही मुझे मिले हैं, वह इनकी प्रभुता ही तो है, मेरा साधन नहीं। इनकी भक्ति किसी साधन से प्राप्त नहीं होती, इनकी कृपा से ही प्राप्त होती है। तो फिर मुझे कृपा करके ये भक्ति क्यों न देंगे? अहिल्या यह सोच ही रही थी कि कल्पतरु भगवान ने उसे दे ही डाला, तो – "रघुपति कृपा भगति पाई।" जब भक्ति प्राप्त हो गई तो – "अति निर्मल बानी अस्तुति ठानी ज्ञानगम्य जय रघुराई।"

अति निर्मल बानी का तात्पर्य यह है कि वाणी में किसी प्रकार की स्वार्थ भावना मिश्रित नहीं है, और निष्काम भक्ति जिन्हें प्राप्त होती है उनकी स्तुति भी स्वार्थरहित, निर्मल, निष्काम ही होती है। इसलिए स्तुति का पहला शब्द है "ज्ञानगम्य" अर्थात् आपको जानने के लिए कामनापूर्ण बुद्धि का प्रयोग ही न करते हुए, केवल अनुभवगम्य ज्ञान का ही प्रयोग हो, तो आप जाने जा सकते हैं। जिसका दूसरा अर्थ यह होता है कि आप से कोई चाह न करते हुए, आप अपनी उदारता से उसे क्या दे देते हैं – इसका अनुभव करते रहना ही भक्त का पूर्ण ज्ञान है, और उसी ज्ञान से आप जाने जा सकते हैं। अतः हे ज्ञानगम्य रघुराई! आपकी जय हो।

मैं नारि अपावन

से "पाहि पाहि शरणहिं आई" तक दोनों चरणों का अवरेव से खण्डान्वय करने पर सरलार्थ प्रतीत होता है क्योंकि "मैं नारि अपावन" कहकर प्रभु जग पावन का तो सम्बन्ध मिल जाता है, किन्तु "रावण रिपु सुखदाई" का सम्बन्ध नहीं मिलता। इसलिए इसका अन्वय इस प्रकार होगा कि "हे ज्ञानगम्य रघुराई आपकी जय हो, हे प्रभु जगपावन, रावणरिपु, जन सुखदाई, राजीव विलोचन, भवभयमोचन, मैं नारि अपावन (तव) शरणहिं आई पाहि पाहि।"

हे प्रभु! जगत को पवित्र करने वाले, रावण जैसे जगत को पीड़ा

देने वाले के शत्रु, अपने भक्तों को सुखी करने वाले, राजीव विलोचन, संसार के भय का नाश करने वाले! मैं अपावन नारी आपकी शरण में आई हूँ, (मेरी) रक्षा करो, रक्षा करो।

कुछ लोग ऐसी शंका करते हैं कि अभी तो रावण की शत्रुता प्रख्यात नहीं हुई, फिर अहिल्या पहले ही रावणरिपु कैसे कह रही है?

इसका समाधान इस प्रकार है कि महर्षि गौतम ने जब शापोद्धार की बात बतलाई होगी, तो यह भी अवश्य कहा होगा कि जब इस जगत का जनसमुदाय रावण के दुराचारों से पीड़ित होकर हाहाकार करने लगेगा, तब भगवान श्री राम का अवतार होगा। इसलिए अहिल्या को यह ज्ञात है कि यह रामावतार अवश्य ही रावण का रिपु है। साथ ही यह भी प्रतीत होता है कि अहिल्या को शाप उसी समय दिया गया है कि जब भगवान ने ब्रह्मा जी की प्रार्थनानुसार रामावतार लेकर रावणवध की सूचना दे दी हो, और उसी सूचनानुसार महर्षि गौतम ने अहिल्या के शापोद्धार की अवधि निश्चित की हो। अतः रावणरिपु कहने में यहाँ कोई असंगति नहीं जान पड़ती।

कितने ही मानस मर्मज्ञों ने इसका अर्थ यह भी माना है कि "रावयति इति रावण:" – जो लोक को रुला दे उसका नाम है रावण, और लोक को रुलाने वाला मिथ्याभिमान है, तथा उस मिथ्याभिमान के आप अनादि कालीन शत्रु हैं यथा –

करुनानिधि मन दीख बिचारी।
उर अंकुरेउ गरब तरु भारी॥
बेगि सो मैं डारिहउँ उखारी।
पन हमार सेवक हितकारी॥

परन्तु यह कल्पना भावुकता के नाते तो सर्वथा शिरोधार्य है, फिर भी सरल और सुस्पष्ट आशय समझने के लिये तो क्लिष्ट ही है। अस्तु "मैं नारि अपावन।"

यहाँ भी अपावन विशेषण व्यक्तिगत पाषाणी के लिए ही नहीं है,

अपितु नारी जाति के प्रति है। यथा –

सहज अपावनि नारि पति सेवत शुभ गति लहहिं।
जस गावत श्रुति चारि अजहुँ तुलसिका हरिहि प्रिय॥

राजीव विलोचन –

से तात्पर्य यह है कि आपके विशाल उत्फुल्ल नेत्रों के दर्शन से भक्तों को सन्तोष प्राप्त होता है और आपकी कृपा दृष्टि भक्तों की विपत्तियों को छिन्न-भिन्न कर सुख प्रदान करती है –

राजिव नयन धरे धनुसायक।
भगत बिपति भंजन सुखदायक॥

सुनि सीता दुख प्रभु सुख अयना।
भरि आए जल राजिव नयना॥

स्यामल गात रोम भए ठाढ़े।
नव राजीव नयन जल बाढ़े॥

राजीव लोचन स्रवत जल तन,
ललित पुलकावलि बनी।
अति प्रेम हृदय लगाय अनुजहिं,
मिले प्रभु त्रिभुवन धनी॥

उन्हीं राजीव विलोचन ने अहिल्या के प्रति सहानुभूति दिखाकर उसे शान्ति पहुँचाई है। अतः राजीव विलोचन कहा गया।

शरणहि आई –

पर यह प्रश्न उठता है कि अहिल्या तो यहाँ की यहीं खड़ी है, कहीं से आई तो नहीं, फिर "शरणहि आई" कैसे कह रही है?

बात यह है कि प्रपत्ति धर्म में मानसिक प्रपन्न होना ही प्रधान माना

गया है, जैसे गजेन्द्र के पैर को ग्राह ने पकड़ रखा है। वह कहीं जा भी नहीं सकता, फिर भी कहता है कि "अहं च तं यामि परं परायणम्" - उस परम परायण की शरण में जाता हूँ। इसका अर्थ यह होगा कि "उसकी शरण हो रहा हूँ"। इसी प्रकार अहिल्या भी कह रही है कि "शरणहिं आई" अर्थात् मैं आपकी शरण में आ चुकी, अब आप मेरी रक्षा करें।

परम अनुग्रह मैं माना

मुनि श्राप जो दीन्हा अति भल
कीन्हा परम अनुग्रह मैं माना।

वैसे तो शाप किसी को भी प्रिय नहीं होता, परन्तु जिस शाप का परिणाम इतना सुन्दर हो कि आप साक्षात् सन्निकट पहुँच जायँ, तो वह शाप नहीं अनुग्रह है। इसलिये मैंने उस शाप को शाप नहीं परम अनुग्रह माना है। यदि यहाँ यह कहा जाय कि शाप को अनुग्रह न मान कर शापोद्धार को अनुग्रह मानना चाहिये, तो कह रही हैं कि "मुनि शाप जो दीन्हा", यहाँ तक तो मैं कुछ नहीं कहती परन्तु शापोद्धार की बात जो कही तो "अति भल कीन्हा" - इस शापोद्धार को मैंने परम अनुग्रह माना। इसी प्रकार महर्षि गौतम ने शाप देकर जो सहस्र नेत्रों का परिवर्तन किया था, उससे इन्द्र को भी उस शापोद्धार में परम अनुग्रह का ही भान हुआ। यथा –

रामहिं चितव सुरेस सुजाना।
गौतम साप परम हित माना॥

इसीलिये मुनि ने शाप देकर उद्धार का निमित्त आपको रखा, यह "परम अनुग्रह मैं माना।" यदि एक भाव पर और विचार करें तो असंगत न होगा – अहिल्या पति को पति न कहकर मुनि कह रही है, कहना यह चाहिये था कि "पति शाप जो दीन्हा" सो नहीं कहा। इससे यह भी ध्वनि निकलती है कि आपका यह अवतार महर्षि नारद से शापित है।

यद्यपि आपको तो शापावतार से अवश्य कष्ट हुआ होगा, परन्तु मैं तो यहीं कहूँगा कि आपको "मुनि शाप जो दीन्हा" वह "अति भल कीन्हा" जिसे "परम अनुग्रह मैं माना"। क्योंकि मुनि ने शाप दिया तभी तो आप इस नरावतार में आये, मैंने "देखेउँ भरि लोचन" आपको इन नेत्रों से भली भाँति देखा। यदि मुनि का शाप न होता तो मुझे यह दर्शन कहाँ मिलते।

मुनि यदि शाप दे देते और शापोद्धार भी कर देते, तो भी कदाचित इस नर वेष में आपको सच्चिदानन्द स्वरूप से पहचान पाती या न पहचान पाती (सती जी को भगवान राम के सम्मुख आने पर भी तो भगवान का स्वरूप ज्ञान नहीं हो सका), परन्तु उन्होंने आपके अवतार होने का पूर्ण विवरण समझाकर जो शापोद्धार कहा वह "अति भल कीन्हा" जिसे "परम अनुग्रह मैं माना"।

इहै लाभ शंकर जाना –

वैसे तो आप सर्वदा शम्भु के मन-मानस-मराल हैं ही, परन्तु जब आप श्री अवधपुरी में इस नरवेष से प्रकट होते हैं तो शंकर जी न जाने कितने वेष बनाकर आपके इस रूप का दर्शन करके परम सन्तोष लाभ प्राप्त करते हैं। इस नरवेष दर्शन का यही "लाभ शंकर जाना", और यही लाभ आज मुझको प्राप्त हुआ है कि भवमोचन हरि के भव में ही दर्शन कर रही हूँ। मेरा भाग्य इस समय शंकर से कम नहीं है। फिर भला पतिदेव के उस परम प्रीतिमय शाप को मैं परम अनुग्रह क्यों न मानूँ कि जिसने मुझे शापित करके भी शंकर के समान ही पदवी दे दी। अतः "परम अनुग्रह मैं माना"।

बिनती प्रभु मोरी मैं मति भोरी,
नाथ न मागउँ बर आना।

हे प्रभु ! मैं बुद्धि की बहुत ही भोली हूँ, सीधी सादी हूँ। इस भोली बुद्धि से मैं यह विनती कर रही हूँ कि पद कमल के पराग और इस अनुराग का मेरा मन रूपी मधुकर पान करता रहे।

पद कमल परागा –

अहिल्या को पति पद कमल पराग को छोड़कर भगवान के कमल पद पराग में मन को मधुप बनाना पतिव्रत धर्म के अनुसार विशेष सुसंगत तो नहीं जान पड़ता। इसके दो समाधान हैं – एक तो यह कि अहिल्या जिस आश्रम में शापित हुई है, उस आश्रम में नहीं रहना चाहती, अब तो वह पति के पास जाकर ऐसे आश्रम में निवास करना चाहती है कि जहाँ अनन्त काल तक क्षण मात्र के लिए भी न तो पति से वियोग हो और न इन्द्र जैसे प्रकृति वालों का वहाँ प्रवेश हो। सोचते-सोचते उसने यह निर्णय किया कि भगवान श्री राघवेन्द्र के चरण कमल वह हैं जिनमें "जावक जुत पद कमल सुहाये - मन मुनि मधुप रहहिं जहँ छाये", उन मुनि मन मधुपों में मेरे पतिदेव का भी मन मधुप होगा और मेरा मन मधुप यदि वहीं पहुँच जाय तो यह अभय प्रद अनन्त संयोग होगा। इसलिए मुख कमल पराग का मन मधुप नहीं बनना चाहती, भगवान के पद कमल पराग का मन मधुप बनना चाहती है। दूसरा समाधान गोस्वामी जी के काव्य चमत्कार का प्रतीक है – यदि अहिल्या यहाँ यह कहती कि "तव पद अनुरागा कमल परागा मम मन मधुप करे पाना", तो यह अनुराग भगवान के पादारविन्दों से ही सम्बन्धित माना जाता। परन्तु "पद कमल परागा" इस अनुराग में व्यक्तित्व का सम्बोधन न होना ही अन्वय और अन्वयार्थ को परिवर्तित कर देता है। यथा –

मुनि श्राप जो दीन्हा अति भल
कीन्हा परम अनुग्रह मैं माना।
देखेउँ भरि लोचन हरि भव
मोचन इहै लाभ संकर जाना॥

हे प्रभु ! मैं "मति भोरी" मोरी विनती यह है कि जिन मुनि ने "शाप दीन्हा अति भल कीन्हा", जिनका "परम अनुग्रह मैं माना" उन्हीं के "पद कमल परागा" को "मम मन मधुप पाना" करे आना वर न माँगों। इसी सम्बन्ध को मिलाने के लिए गोस्वामी जी अन्तिम में लिखते हैं –

जो अति मन भावा सो बर पावा,
गई पति लोक अनन्द भरी।

इन दो प्रकार के भावार्थों से न भगवच्चरणारविन्दों का अपमान होता है और न पति के चरणों से उपरामता होती है।

जेहि पद सुरसरिता परम पुनीता,
प्रगट भई सिव सीस धरी।
सोई पद पंकज जेहि पूजत अज,
मम सिर धरेउ कृपाल हरी॥

अन्त में अहिल्या श्री गंगा से अपना साम्य सूचित कर रही है कि जिन पदों से "परम पुनीता सुर सरिता" प्रकट भई सोई पद पंकज जब मम सिर कृपालु हरी धरेउ, तो मैं भी उन पदपंकजों के सम्पर्क से ही "प्रगट भई तप पुञ्ज सही"। पदपंकजों के सम्पर्क से निकली हुई सुर सरिता को पूजत अज - ब्रह्मा पूजन करते हैं और उन्हीं ब्रह्मा से शंकर ने वह सुरसरिता प्राप्त करके अपनी अर्धाङ्गिनी बनाया। मेरे पिता भी ब्रह्मा ही हैं, उनसे मेरे पतिदेव ने मुझे प्राप्त किया। परन्तु गंगा को शिव ने अपनी अर्धाङ्गिनी बना कर "शीश धरी", बड़े प्रेम से मस्तक पर स्थान दिया। इसका कारण ब्रह्म से ही प्रगट होकर गंगा को यह सम्मान नहीं मिला, अपितु आपके चरणारविन्दों के स्पर्श से, शंकर पति ने गंगा पत्नी को शीश चढ़ाया। मेरे पति ने इसीलिए मुझे शाप देकर मुझ पर परम अनुग्रह किया कि तू ब्रह्मा की पुत्री तो अवश्य है, परन्तु एक बार यदि प्रभु-पाद-पद्म से प्रगट हो जाय, तो मैं शंकर की ही तरह तेरा सम्मान करूँगा। अतएव आज मैं प्रभु-पद-रज से प्रकट होकर पति लोक को सानन्द जा रही हूँ। उस गंगा से मुझ गंगा में यह विशेषता भी है कि प्रभु-पाद-पद्म से ब्रह्मा के कमण्डल में आई, फिर कमण्डल से शिव शीश पर आई, फिर भागीरथ के साथ उस लोक से इस लोक में आकर आज तक बहती ही जा रही है। परन्तु मैं ब्रह्मा से अपने पतिदेव के पास आई, पतिदेव की भेजी हुई इस लोक में आई और इस लोक से आपके चरण मुझे प्रगट करके उस लोक में भेज रहे हैं। वह गंगा ऊपर से नीचे आकर आज

तक बह रही है। यह गंगा नीचे से ऊपर जाकर, पतिलोक अचल स्थान प्राप्त करेगी। गोस्वामी जी से यह अहिल्या और गंगा का साम्य देखकर न रहा गया, कह ही तो उठे कि –

अस प्रभु दीनबन्धु हरि, कारन रहित दयाल।
तुलसिदास सठ ताहि भजु, छाँड़ि कपट जंजाल॥

कारन रहित दयाल –

यहाँ शापोद्धार कारण तो है ही फिर कारण रहित दयालुता कैसी? तात्पर्य यह है कि शापोद्धार कर देना, महर्षि विश्वामित्र जी की बात मानकर चरण रज दे देना, तथा उसकी याचना पर मन वांछित वरदान दे देना – इन सब कार्यों के तो कारण अवश्य हैं, परन्तु एक कार्य भगवान ने अहिल्या के प्रति ऐसा भी किया है जिसमें कोई भी कारण न हुआ है और न कभी होता है। उसका कारण भगवद्दया मात्र ही है और वह दया अहिल्या पर बिना कारण ही की गई। इसीलिए गोस्वामी जी ने "कारण रहित दयाल" की उपाधि से विभूषित किया है। अहिल्या के पाषाणी होने में महर्षि गौतम का शाप कारण है, भगवद्दर्शन में तपस्या कारण है, वरदान प्राप्ति में याचना कारण है, पतिलोक जाने में शापोद्धार कारण है। परन्तु अहिल्या को एक वस्तु बिना कारण के दे दी गई है, वह है निष्काम भक्ति। इसीलिए गोस्वामी जी लिखते हैं कि "रघुपति कृपा भगति पाई"। कागभुशुण्डि जी ने गरुड़ जी से कहा कि भगवान ने मुझ पर प्रसन्न होकर मुझे सब कुछ देने करने कहा, परन्तु "सब सुख देन प्रभु कहेहु सही। भगति आपनी देन न कही",अर्थात् भगवान परिश्रम पर, तपश्चर्या पर, माँगने पर या और भी अनेक कारणों पर, त्रिलोक के समस्त सुख दे देते हैं। किन्तु अपनी परम प्रेमस्वरूपा भक्ति किसी को नहीं देते क्योंकि भक्ति जिसे देते हैं उसके पीछे पीछे भगवान को चलना पड़ता है, "अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः" जो भगवान् के निष्काम भक्त होते हैं उनका सभी भार और उत्तरदायित्व भगवान पर ही होता है। इसलिए भगवान जब किसी अकिंचनत्व पर अतिशय प्रसन्न हो जाते हैं,

तब उसे अपनी भक्ति देते हैं। परन्तु यहाँ अहिल्या की कोई भी आकांक्षा न होते हुए भी, आपको उसकी दैन्यावस्था पर इतनी दया आ गई कि जो सबसे अधिक मूल्यवान, सुरक्षित, गोप्य धन था – "निष्काम भक्ति", वही दे डाला। इसीलिए गोस्वामी जी ने "दीनबन्धु" कहा।

छाँड़ि कपट जंजाल –

अहिल्या ने पति प्रेम को हृदय में दबाते हुए भगवान की उपासना में, श्रद्धा और प्रार्थना में अतिशयोक्ति नहीं की। भगवान की सब प्रकार से स्तुति करते हुए, सुस्पष्ट याचना यही रखी कि मुझे पतिलोक भेज दीजिए। यही अहिल्या का निष्कपट एवं जंजालरहित होना है। इसीलिए गोस्वामी जी ने स्वयं को निमित्त कारण बनाते हुए समस्त जीवों को उपदेश दिया है कि समस्त साधन रूप जंजालों को छोड़ कर और भगवत्भक्ति माँगने के बहाने, वासनापूर्ति के माँगने का कपट त्याग कर, भगवान् का भजन करना चाहिए जिससे उनकी अहैतुकी दया का जीव पात्र बन सके।

* * *

अहिल्या प्रसंग का सिद्धान्तत्रय परक विचार

(१) उपासना -

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मंतव्यो सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।

- (श्रीमद्भगवद्गीता)

भगवान् के उपरोक्त वचनों द्वारा भगवान् की प्रपत्ति प्राप्त करने का सारगर्भित सदुपदेश गोस्वामी जी ने अहिल्योद्धार द्वारा प्रदर्शित किया है। जीव अनेक अपराधों से आवेष्ठित हो किन्तु प्रभु की शरण में जिस क्षण आ जाता है, उसी क्षण वह परम धर्मात्मा एवं साधु हो जाता है, और उसे सर्वदा के लिए शान्ति प्राप्त हो जाती है। यह भगवद्दया द्वारा प्रपत्ति प्राप्त कर लेने का जीव के लिये विशिष्ट उपाय है, जैसा कि अहिल्योद्धार से सुस्पष्ट होता है।

(२) ज्ञान -

चित्त गौतम है, **बुद्धि** अहिल्या है। यह बुद्धि जब चित्त गौतम की ओर से हट कर **अहंकार** इन्द्र की ओर आकर्षित हो जाती है, तो चित्त बुद्धि को अवलम्ब देना छोड़ देता है, जिससे बुद्धि (पाषाणी) जड़ होकर अधिक समय तक किंकर्तव्यविमूढ़ सी होकर कालक्षेप करती रहती है। परन्तु जिस दिन **विचार** विश्वामित्र कृपा करके बुद्धि को आत्म-भगवान् से साक्षात करा देते हैं, उसी दिन वह बुद्धि शुद्ध होकर (प्रतिष्ठा प्रज्ञा बनकर) चित्त का सहयोग कर लेती है और आत्माराम के ध्यान में संलग्न होकर

शान्ति का परम धाम प्राप्त कर लेती है।

(३) कर्म -

गोस्वामी जी ने उपासना और ज्ञान का विशाल प्रतिपादन करते हुए भी प्रत्येक स्थल पर देश, जाति, समाज आदि का भी अध्ययन किया और उसे सुरक्षित रखने के लिए अनेक सहज और स्वाभाविक युक्तियाँ अपनाई हैं।

गोस्वामी जी के सामने मुगल साम्राज्य का स्तर था और प्रायः स्त्रियों का अपहरण होता था। जिससे वह बरबस अपहृता अनाथ अबलायें अन्य जातियों में सम्मिलित कर लेने के बाद हिन्दू जाति में पुनः अपनाई नहीं जा सकती थीं। गोस्वामी जी ने इसके लिए अपनी दो व्यवस्थायें दीं। यदि स्त्री अपनी स्वतन्त्र असद्वृत्ति के कारण दुराचारिणी हो कर कहीं चली जाय, तो उसके लिए "पतिवंचक पर पति रति करई, सो तिय घोर नरक महँ परई" और वह अपने दुराचार के कारण त्यागी भी जा सकती है। परन्तु जो स्त्री किसी दुराचारी के दुराचार का, विवश होकर शिकार हो चुकी है और उसके हृदय में पश्चात्ताप है तथा वह अपने पति और समाज से पुनः मिलने के लिए कठिन से कठिन प्रयत्न भी करती है, तो देश, जाति, समाज के कर्णधार महापुरुषों को चाहिए कि वह उसकी ऐसी ही व्यवस्था करें जैसी कि भगवान् राम ने अहिल्या के लिए (की) – "जो अति मन भावा सो वर पावा, गई पतिलोक अनन्द भरी।"

गई पतिलोक अनन्द भरी -

पर साहित्य महारथी स्व० श्रीयुत लाला नायकंदनि जी "दीन" का एक प्रसिद्ध छंद है –

सुनी मुनि कौशिक ते शाप को हयाल सब,
बड़ी चित करुणा की अजब उमंग है।
पद रज डारि दिए पाप सब क्षीर करि,
नवल सुनारि दियो धाम हू उतंग है॥

दीन भने ताहि लखि जात पति लोक और,
उपमा अभूत को सुफानौ नयौ ढंग है।
कौतुक निधान राम रज की बनाय रज्जु,
पद ते उड़ायी रिषि पतनी पतंग है॥

इस ऋषि पत्नी पतंग को उड़ते हुए देख कर, मैं भी समस्त पाठकों सहित यह आशा करता हूँ कि भगवत्पाद-रज-स्पर्श से इसी प्रकार हम सबकी भी प्रपत्ति साकेत धाम तक पहुंच सकेगी। शुभमिति।

* * *

मानस का मल्लाह

भूमिका

गोस्वामी श्री तुलसीदास जी महाराज जगतगुरु श्री रामानन्दाचार्य जी महाराज के श्री रामानन्दीय वैष्णव सम्प्रदाय में दीक्षित थे। यह बात ऐतिहासिक तथ्यों से प्रायः अब तक सिद्ध हो चुकी है और गोस्वामी जी महाराज ने जितने भी ग्रन्थों की रचना की है, उनमें से १२ बारह ग्रन्थ जो अब तक उपलब्ध हो चुके हैं, वही उनकी काव्यधारा के मूल श्रोत कहे जाते हैं।

गोस्वामी जी महाराज यद्यपि अपने सम्प्रदाय के दृढ़ नैष्ठिक महापुरुष एवं भगवान श्री राघवेन्द्र की अनन्य उपासना के स्तम्भ हैं, यह भी सर्वथा सिद्ध और सत्य है, परन्तु गोस्वामी जी के विचारों में वह सम्प्रदाय सङ्कीर्णता नहीं है कि जिससे जनसमुदाय पारस्परिक विद्रोह में पड़कर विरोध और अकल्याण के पथ पर अग्रसर हो सके। और मैंने तो जहाँ तक अपने विचारों से गोस्वामी जी के सिद्धान्तों का अध्ययन किया है, उससे मुझे यह प्रतीति हुई है कि गोस्वामी जी के अन्य ग्यारह ग्रन्थ सम्भव है कि वैष्णव समाज के ही हितार्थ रचे गये, परन्तु श्री रामचरित मानस केवल वैष्णव समाज के लिये ही नहीं, अपितु विश्व के मानव समाज के लिये लिखा गया है।

इसीलिये आजकल गोस्वामी जी की जन्मभूमि पर किंवदन्तियाँ चल रही हैं, उनमें – कौन से तुलसीदास जी गोस्वामी हैं, कौन से तुलसीदास जी अष्टछाप के नन्ददास के भाई हैं, कौन से तुलसीदास जी सोरों के हैं और कौन से राजापुर के – आदि अनुमानिक कल्पनाओं में मेरा अनुमान तो यही है कि श्री तुलसीदास जी के अन्य ग्यारह ग्रन्थों को लेकर यह विवाद चलता रहे सो भले ही चले; किन्तु श्री रामचरित मानस का रचयिता महापुरुष महात्मा तुलसीदास जी, अपने प्रशस्त विचारों से यह

सिद्ध कर रहा है कि मैं किसी एक प्रान्त का नहीं, एक नगरी का नहीं, अपितु रामचरित मानस का तुलसी समस्त भारत का तुलसी है।

समस्त विश्व की सुसभ्य मानव जाति ही उसकी जाति है और जो सबकी समझ में आ सके वही भाषा तुलसी की भाषा है। इसीलिये श्री तुलसी के रामचरित मानस पर मेरा भी ऐसा ही विचार है, जिससे सम्भव है कुछ ऐसे लोगों को, जो श्री तुलसी को सीमित क्षेत्र में ही देखना चाहते हैं, उनको रुचिकर न हो सके। फिर भी "समुझि परी कछु मति अनुसार" के दृष्टिकोण से मैं अपने विचारों से उत्तरोत्तर सहयोगियों के परामर्श से अवगत तो होना चाहता हूँ, किन्तु विमुख नहीं होना चाहता। अपनी उसी विचार शैली को जनता के सामने उपस्थित करने के लिये बहुत से लोग मुझसे यह पूछा करते हैं कि आपने श्री रामचरित मानस पर जो टीका लिखी हो वह बतलाइए। मैंने गत ३५ वर्ष से मानस पर जो विचार संकलन किया है, वह संकलन इतना विशाल हो चुका है कि जिसे मैं जनता तक पहुँचाने में असमर्थ हूँ। इसलिये इसे पाठकों के समक्ष "मानस रत्नावली" पुस्तक के रूप खण्डशः प्रस्तुत कर रहा हूँ।

अब पाठक श्री रामचरित मानस के मल्लाह की ओर अपना ध्यान ले जायें।

विनीत –
"बिन्दु" गोस्वामी

* तृतीय रत्न *

मानस का मल्लाह

[मानस मन्दाकिनी व्याख्या]

सुरसरि तीर से थोड़ी दूर पर सुमन्त जी को "दीन बाल जिमि रोय" की दशा में छोड़कर श्री राघवेन्द्र, श्री जनक नन्दिनी, श्री लक्ष्मण और निषादराज को साथ लेकर परम पावनी पुण्य तोया श्री भागीरथी के तट पर आकर खड़े हो गए। और "माँगी नाव" केवट से नाव माँगने लगे, परन्तु "न केवट आना" केवट लाया नहीं, "कहइ तुम्हार मरम मैं जाना" कह रहा है कि तुम्हारा मर्म मैं जानता हूँ।

माँगी नाव न केवट आना।
कहइ तुम्हार मरम मैं जाना॥

अन्वय – (राघवेन्द्र ने) नाव माँगी, (परन्तु) केवट आना (लाया) न (नहीं) कहइ (कह रहा है) कि तुम्हार (तुम्हारा) मरम (रहस्य) मैं जाना (समझ गया)।

उवाच शीघ्रं सुदृढां नावमानय मे सखे।
तस्मिन् काले नाविकेन निषिद्धो रघुनन्दनः॥

(अध्यात्म रा०)

श्लोकार्थ – (श्री राघव) बोले, कि हे सखे! हमारे लिये शीघ्र दृढ़ नौका ले आओ, उस समय नाविक ने श्री रघुनन्दन जी को रोक दिया।

यहाँ अध्यात्मकार (श्री शिवजी) का यह मत है कि श्री राघव

राजाधिराज हैं, अतः राजाधिराज सेवक से नाव न माँग कर निषादराज से ही नाव माँग रहे हैं। यह उच्च मर्यादा का आदर्श है। परन्तु श्री गोस्वामी जी ने विचारा कि यदि सरकार निषादराज से नाव माँगें और केवट नाहीं कर दे, तो भी अनुचित है और यदि केवट से माँगा जाय और नाहीं कर दे तो भी अनुचित है। अतः आपने अनिश्चित् याचना का भाव रक्खा अर्थात् "माँगी नाव" नाव तो माँगी, परन्तु किससे माँगी, इसे स्पष्ट न किया; इस चातुर्य से सभी दोष हट गये। निषाद पक्ष वाले अध्यात्म सिद्धान्त से "नावमानय मे सखे" अर्थात् निषाद से नाव माँगना लगा लें, और केवट पक्ष वाले केवट से भी नाव माँगना लगा लें।

फिर दूसरा भाव गोस्वामी जी का यह भी हो सकता है कि श्री राघव सरकार, चक्रवर्ति विभूति छोड़कर, फिर सखा निषाद के याचक क्यों बन सकते हैं? यदि कहो कि सखा निषाद के याचक नहीं बने, तो केवट के कैसे बन सकेंगे? इसका यह समाधान होगा कि भगवान सखा के याचक नहीं हो सकते, परन्तु दास भक्तों तथा दीनों के याचक होते हैं। यथा सुग्रीव को राज्य दिया, परन्तु शबरी से फल लिये, विभीषण को राज्य दिया, परन्तु हनुमान जी के ऋणी ही रहे इत्यादि। इससे यह सिद्ध हुआ कि श्लोक से चौपाई की रचना बड़ी युक्तिमय है। श्लोक से दूसरा भाव आता है कि "नाविकेन निषिद्धो" अर्थात् नाविक ने श्री राघव को निषेध किया (नाहीं की)।

यह एक प्रकार की अमर्यादा हो सकती है, परन्तु "न आना" यह अमर्यादित नहीं बल्कि चातुर्य क्रिया है। अतः इन ही भावों में, श्लोक से श्री गोस्वामी जी की चौपाइयाँ कुछ विशेष सुरम्यता रखती हैं।

माँगी नाव

भावार्थ – १

जिनसे शिव ब्रह्मादि तक माँगते हैं। कि –

बार बार बर माँगहुँ, हरषि देहु श्री रंग।
पद सरोज अनपायनी, भक्ति सदा सतसंग॥

वे ही त्रिलोक-विभूति-दातार आज केवट से माँग रहे हैं। यही भाव गोस्वामी जी ने कवितावली में स्पष्ट किया है, यथा –

नाम अजामिल से खल कोटि,
अपार नदी भव बूड़त काढ़े।
जो सुमिरे रज मेरु शिला कण,
होत अजा खुर वारिधि बाढ़े॥
तुलसी जिनके पद पंकज ते,
प्रगटी तटनी जु हरै अघ गाढ़े।
ते प्रभु या सरिता तरिबे कहँ,
माँगत नाव करार ह्वै ठाढ़े॥

तात्पर्य – अजामिल से कोटि खल जिन्होंने अपार भव नदी में बूड़ने से बचा लिए, जिनके स्मरण करने से जो रज समान नीच थे (बाल्मीकि, यवन प्रभृति) सो सुमेरु सम अचल हो गए, और जिनके पाप शिला समान थे (अहिल्या, गीध प्रभृति) वे पाप रज कण समान हो गए तथा जो बढ़े हुए समुद्र में डूब रहे थे (सुग्रीव, विभीषण प्रभृति) सो अजा खुर समान शोक समुद्र से तर गए। जिनके चरण कमलों से गहरे पाप हरण करने वाली गंगा प्रगट हुई हैं, वही प्रभु उस सरिता से तरने के लिए किनारे पर खड़े होकर केवट से नाव माँग रहे हैं।

[कवित्त]

भइया देहु नाव तो उतरि जाऊँ पार,
सरकार जनि जाहु रुकि जाहु अब याँही पै।
रबि ताप बाढ़ि है कठिन करि दैहै मग,
करहु व्यतीत प्यास छप्पर की छाँही पै॥
बिहँसि बिहँसि बार बार प्रभु बोलैं "बिन्दु",

केवट न आवै ठाढ़ो बाँस धरि बाँहीं पै।
कोटि कोटि ब्रह्म सुख होत बलिहार,
रघुनन्दन के माँगिबे पै केवट की नाँहीं पै॥

भावार्थ – २

यद्यपि यह रियासत कौशल खण्डान्तर्गत है, रियासत का राजा सरकार का मित्र है, पहले ही सर्वस्व अर्पण कर चुका है, यथा –

देव धरनि धन धाम तुम्हारा।
मैं जन नीच सहित परिवारा॥

यह तीन बल होते हुये भी आपने आज्ञा देकर नाव मँगाई नहीं, बल्कि भिक्षा रूप में "माँगी नाव"। इसमें गोस्वामी जी ने दो आदर्श दिखलाए – एक यह कि चाहे तुम कितने ही समर्थ क्यों न हो, चाहे तुम्हारा कितना ही घनिष्ट सम्बन्ध क्यों न हो, परन्तु फिर भी किसी वस्तु पर अनधिकार आज्ञा नहीं कर सकते या अनधिकार चेष्टा से उसे ग्रहण नहीं कर सकते। तुम त्रिलोक के स्वामी ही क्यों न हो परन्तु किसी गरीब ग्रामीण नीच की भी कोई वस्तु लो, वो उससे माँग कर ही ले सकते हो। दूसरा यह कि हम चक्रवर्ती के पुत्र अवश्य हैं, हमारा अधिकार भी है कि हम राजाज्ञा बल से नाव मँगावें, परन्तु इस समय ऐसा करने में अधर्म होगा, कारण कि –

तापस वेष विशेष उदासी।
चौदह वर्ष राम वनवासी॥

इसी के नियम के अनुसार, बनवासी राम जैसे उदासी सन्त को राजाज्ञा देने का अधिकार नहीं, बल्कि याचना करना ही धर्म है। इस कारण "मांगी नाव"।

भावार्थ – ३

प्रश्न – इनके पास तो इनके ही नाम की नौका मौजूद है? यथा

– राम नाम दृढ़ नौका, संसार तारिणी, फिर यह केवट से क्यों नाव माँग रहे हैं ?

उत्तर – समुद्र में चलने वाली नौका जहाज है, वह छोटी नदी में नहीं चल सकती। अतः इस छोटी नदी के लिये यह नाव माँगी जा रही है, और सरकार की नाम नौका "संसारार्णव" संसार समुद्र के लिए है, अतः "माँगी नाव"। आगे जहाँ समुद्र तरण की आवश्यकता होती है, वहाँ ही नाम नौका काम देती है, यथा –

बार बार रघुबीर सँभारी।
तरकेउ पवन तनय बलभारी॥

जल निधि रघुपति दूत बिचारी।
कह मैनाक होहु श्रम हारी॥

... इत्यादि

भावार्थ – ४

सरकार के नाम की नौका सम्पूर्ण जल राशियों से पार कर सकती है, किन्तु सरकार के चरणोदक से पार नहीं कर सकती क्योंकि नाम नौका पर सवार होने वाले यात्रियों का तो चरणोदक ही जीवन है। उससे पार कर देना नाम नौका की रीति नहीं है। इस कारण नाम नौका न लेकर इस समय केवट से "माँगी नाव"।

भावार्थ – ५

यद्यपि निषाद से भी नाव के लिये कह सकते थे, परन्तु यह जानकर कि केवट ठेकेदार है, निषाद इससे कर वसूल करता होगा, फिर निषाद का नाव पर अधिकार ही क्या है ? अतः केवट से ही "माँगी नाव"।

भावार्थ – ६

नाव मँगाना एक प्रकार की सेवा है, वाहक (कोचवान) ही यह सेवा

करते हैं, निषाद सखा हैं – यदि निषाद से नाव मँगाते तो दर्जे में निषाद एक सीढ़ी कम हो जाते, क्योंकि सातवाँ दर्जा है सेवक का, और आठवाँ दर्जा है सखा का – निषाद सखा है – उसे सेवक कैसे बना देते। हाँ, निषाद स्वयं ही ले आता तब तो कोई बात न थी, परन्तु सरकार अपनी तरफ से उससे नहीं कह सकते हैं, और निषाद यह चाहता नहीं है कि सरकार मेरे यहाँ से चले जायँ। तभी तो केवट के नाहीं करने पर भी निषाद कुछ नहीं बोलता, वरना श्री राघव को केवट इन्कार कर दे और निषाद कुछ न कहे! परन्तु निषाद अपनी ओर नाव देना ही नहीं चाहता! और सम्भवतः यही इशारा पाकर केवट भी नाहीं कर रहा हो? अतः सरकार ने भी (निषाद का दर्जा घट न जाये इस बात का विचार करके निषाद से नहीं बल्कि) केवट से ही "माँगी नाव"।

भावार्थ – ७

प्रश्न – तो क्या केवट निषाद से एक दर्जे कम का भक्त है?

उत्तर – हाँ, लौकिक में तो निषाद से केवट एक दर्जे क्या चार दर्जे कम है, यथा –

१. श्रवणं २. कीर्तनं ३. विष्णोः स्मरणं ४. पाद सेवनम्।
५. अर्चनं ६. वन्दनं ७. दास्यं ८. सख्य ९. आत्मनिवेदनं॥

उपरोक्त श्लोक में – पाद सेवन नम्बर चार पर है। इस हिसाब से केवट चार नम्बर कम हैं क्योंकि पाद सेवक है, और निषाद ४ नम्बर अधिक है क्योंकि सखा है। लेकिन श्लोक को उलटा पढ़िये तो निषाद के ही, केवट से चार नम्बर कम होते हैं। इसका कारण यह है कि जब तक नियम से चलोगे, तब तक बेशक दास सखा से कम होगा, परन्तु प्रेम में आते ही दास बढ़ जाता है, सखा कम हो जाता है। यदि कहो कि उल्टा श्लोक लगायें ही क्यों, तो इसका समाधान यह है कि प्रेम के सभी काम उल्टे ही होते हैं। केले के बजाय छिलका खाना, भक्त का कोचवान बनना, गोपियों की रज से दर्द दूर होना, यह सब उलटे ही कार्य तो हैं।

प्रश्न – परन्तु उपरोक्त उदाहरण तो भगवान श्रीकृष्ण चरित्र के हैं, श्री राघव चरित्र में कोई प्रमाण है क्या ?

उत्तर – श्री राघव चरित्र में तो श्री गणेश ही उलटा है।

उलटा नाम जपत जग जाना।
बाल्मीक भये ब्रह्म समाना॥

अतः प्रेम की उलटी रीति से श्लोक लगाने पर, निषाद से केवट ही बड़ा है और यही बड़प्पन दिखाने को ही तो सरकार निषाद के मित्र ही बने, परन्तु केवट के भिखमंगे बने। यथा –

ऐते खास खास नाते दारन के पास हैं,
पै दीन हीन दासन के दीन बन्धु दास हैं।

[र० बि०]

इसी भाव को ध्यान में रखकर केवट से "माँगी नाव"।

भावार्थ – ८

निषाद के नाव न मँगाने का एक कारण यह भी है कि जिस समय सरकार ने सुमन्त्र को विदा किया, उस समय की निष्ठुर व्यवस्था देखकर निषाद स्तब्ध हो गया। क्योंकि यह दशा ही ऐसी थी कि जिसे देखकर सभी निषाद व्याकुल हो गये थे। यथा –

रथ हाँकेउ हय राम तन, हेरि हेरि हिहिनाहिं।
देखि निषाद बिषादबस धुनहिं सीस पछिताहिं॥

निषाद इसी समय से सरकार की विरह वेदना और निष्ठुर समय का अनुभव करके मन्त्रमुग्ध की भांति, निश्चेष्ट होकर सरकार के साथ उपस्थित है, इसे होश ही नहीं है, जभी तो –

बरबस राम सुमंत्रु पठाए।
सुरसरि तीर आपु तब आए॥

निषाद भी आया, परन्तु बेहोश है।

उतरि ठाढ़ भये सुरसरि रेता।
सीय रामु गुह लखन समेता॥

फिर भी उसे कोई होश नहीं है।

केवट उतरि दण्डवत् कीन्हा।
प्रभुहि सकुच एहि नहिं कछु दीन्हा॥

फिर भी चुप है, यदि होश होता, तो अवश्य कहता कि सरकार यह तो आपका सेवक ही है, आप क्यों इतना संकोच करते हैं? परन्तु कुछ न कहा। हाँ, होश कब होता है?

तब प्रभु गुहहिं कहेहु घर जाहू।
सुनत सूख मुख भा उर दाहू॥

जब सुमन्त्र वाली दशा (जिसमें यह अभी तक डूबा हुआ था) इस पर भी आई, तब इसे होश हुआ। सुमन्त्र की दशा का मिलान कीजिये।

सुमन्त्र –

राम प्रबोध कीन्ह बहु भाँती।
तदपि होति नहि सीतल छाती॥

निषाद –

सुनत सूख मुख भा उर दाहू।

शीतल छाती नहिं होत, और भा उर दाहू – दोनों एक दशा हैं, इसलिये जब श्री राघव ने निषाद को वियोग सागर में बेहोश देखा तो, निषाद से कुछ न कहकर केवट से "माँगी नाव"।

भावार्थ – ९

"माँगी" शब्द का प्रयोग और कारण टीकाकार के "श्री मानस मणि

माल" को देखें।

भावार्थ – १०

कहीं नाव का जिक्र करते ही निषाद भी सुमन्त्र की भाँति – "करि बिनती पाँयन पर्यो, दीन्ह बाल जिमि रोय" – वाली हालत चरितार्थ न करने लगे? इस कारण से ही "माँगी नाव"।

माँगी नाव न केवट आना।

भावार्थ – ११

त्रिलोकीनाथ की याचना पर भी मल्लाह का इन्कार कर देना, धृष्टता और दयालुता दोनों की ही पराकाष्ठा है। प्रेम में मान प्रायः प्रिय को होता है, प्रेमी को नहीं। श्रीकृष्ण चरित में श्रीकिशोरी जी का मान प्रायः बहुत प्रसिद्ध है। वहाँ श्रीकिशोरी जी प्रिया हैं और श्री नन्दनन्दन प्रेमी, इसलिए प्रायः श्रीकिशोरी जी का मान होने पर श्रीश्यामसुन्दर मनाया करते हैं। परन्तु भगवान जिनके प्रिय हैं और जो भक्त प्रेमी हैं, उनको भगवान से मान करने का अधिकार नहीं है। गो० श्री तुलसीदास जी को श्रीमद्भागवत के रस और रहस्य से घनिष्ठतम स्नेह है। इसलिए श्रीमद्भागवत के अनेक भावों का यथातथ्य अनुवाद (श्रीरामजन्म में अद्भुत दर्शन, पुष्पवाटिका के निमित्त से महारास, वर्षा ऋतु का वर्णन आदि आदि) उपस्थित है। अतः श्रीश्यामसुन्दर की परमोपासिका गोपिकाओं के मान का चित्रण करने के लिए आपने मानस में केवट को ही उपयुक्त समझा है, और इससे यह सिद्ध किया कि जो भगवान के निश्चल दृढ़ प्रेमी भक्त होते हैं, वे भगवान के प्रिय बन जाते हैं और भगवान उनके स्वयं प्रेमी बन जाते हैं। जभी तो आज भी रघुनन्दन केवट से नाव माँग रहे हैं और केवट नाव के लाने में मान कर रहा है।

इस तरफ ख्वाहिश है, दुनियाँ भर के शहँशाह की।
उस तरफ इनकार है, इक मस्त लापरवाह की॥
प्रेम के झगड़े में चलती है, ये कोशिश चाह की।

दीन वत्सल की दया हो, ज़िद रहे मल्लाह की॥
देखें अब किसकी फतह हो, और किसकी हार हो।
दोनों मल्लाहों में पहले, किसकी किश्ती पार हो॥

भावार्थ – १२

श्री रघुनन्दन ने जब नाव माँगी, तो केवट ने अपने स्वामी निषादराज की ओर देखा कि नाव दूँ या नहीं। निषादराज चुपचाप पृथ्वी की ओर देखते हुए थे। केवट ने इस का अर्थ यह लगाया कि राघवेन्द्र अपने परम सखा निषाद से नाव न माँग कर, मुझ से क्यों माँग रहे हैं। कदाचित राघवेन्द्र ने निषादराज से नाव माँगी होगी, किन्तु उनका विचार श्री राघवेन्द्र को यहाँ से विदा करने का नहीं होगा। इसलिए निषाद राज ने हम लोगों को नाव लाने की कोई आज्ञा नहीं दी और हमारी तरफ देखकर भी इशारा नहीं कर रहे हैं, नहीं तो कल इन्होंने श्री राघवेन्द्र का स्वागत किया, सेवा, सत्कार का प्रबन्ध किया, हम लोगों को पहरे पर बिठाया आदि आदि समुचित व्यवस्थायें कीं, तो क्या आज मुझे नाव लाने की आज्ञा नहीं दे सकते। परन्तु निषाद राज की इच्छा ही नहीं है, इसलिए केवट ने श्री राघवेन्द्र के नाव मँगाने पर – "न आना" – नहीं लाया। भगवान ने पूछा कि भाई नाव लाता क्यों नहीं है, तो केवट ने कहा कि सरकार निषादराज और मैं एक ही हूँ। केवट निषाद राज से "आना न" अर्थात् दूसरा नहीं है। इसलिए जो निषादराज की इच्छा है, वही मेरी भी इच्छा है कि आप यहाँ से सिधारने का कष्ट न करें।

भावार्थ – १३

आप कहेंगे कि निषादराज और केवट यदि दो नहीं हैं, तो फिर कल निषादराज ने तो मुझसे यह कहा था कि –

देव धरनि धन धाम तुम्हारा।
मैं जनु नीचु सहित परिवारा॥

तो जब निषादराज का "धरणि धन धाम" सब मेरा ही है, तो नाव

मेरी क्यों नहीं है। और तुम और निषादराज यदि दो नहीं हो, तो फिर मुझे नाव देते क्यों नहीं हो? तो प्रार्थना यह है कि निषादराज के कथनानुसार "धरणि धन धाम" आप अपना ही समझ रहे हैं, तो अपनी वस्तु माँगी नहीं जाती। अपनी वस्तु लाने के लिए आज्ञा दी जाती है। इसलिए यदि आप आज्ञा देते, तो मैं नाव अवश्य ले आता। लेकिन आप निषाद राज का "धरणि धन धाम" अपना समझ कर भी याचना कर रहे हैं, तो यह आपको शोभा नहीं देता। और यदि आपके याचना करने पर आपकी सम्पत्ति का दाता मैं बन जाऊं, तो यह मुझे भी उचित नहीं है। इसलिए "न आना"।

भावार्थ – १४

यदि आप कहें कि जब मैं अपना ही "धरणि धन धाम" छोड़ कर "तापस वेष विशेष उदासी" के रूप में साधु धर्म पालन करने के लिए निकल पड़ा हूँ, तो निषादराज के धन धाम पर शासन करने का मुझे क्या अधिकार है। तो दीनबन्धु! साधुओं का कर्तव्य यह भी नहीं है कि वह किसी उतराई लेने वाले केवट से पार होने के लिए नाव की भीख माँगे। साधुओं के लिए तो ऐसे भी घाट मौजूद हैं कि जिनसे वह पैदल भी पार हो सकते हैं –

यहि घाट तें थोरिक दूर अहै कटि लौं जल थाह दिखाइहौं जू

तो आपको मैं साधु रीति से गंगा पार होने का सुगम उपाय बतला सकता हूँ, नाव लाने की क्या आवश्यकता है।

भावार्थ – १५

इसी निमित्त से अपने प्रिय को अटकाये रहना या अटके रहना, प्रेम का गूढ़ रसास्वादन है। प्रेमी सदा चाहता है कि अपने प्रिय का किसी बहाने दर्शन, स्पर्श, श्रवण और भाषण होता ही रहे –

दर्शने स्पर्शने वादि श्रवणे तथा।
यत्र द्रवत्यन्तरंगम् सप्रीति रीति कथ्यते।

और इस दर्शन स्पर्शनादि होने के बहाने, प्रेमी एक नहीं अनेकों बना लिया करता है। केवट ने भी उपरोक्त प्रेम की चारों अभिलाषाएँ पूर्ण करने के बहाने उपस्थित किये, यथा –

दर्शन – "माँगी नाव" से "विदा कीन्ह करुणा यतन" तक है ही

स्पर्श – "चरण सरोज पखारन लागा।"

कहेहु कृपालु लेहु उतराई।
केवट चरण गहे अकुलाई।

श्रवण – "माँगी नाव"

कृपासिन्धु बोले मुसकाई।
सोइ करु जेहि तव नाव न जाई॥
बेगि आनु जल पाँय पखारू।
होत विलम्ब उतारहि पारू ॥

कहेहु कृपाल लेहु उतराई।

बहुत कीन्ह प्रभु लखन सियँ,
नहिं कछु केवट लेइ।

भाषण – "कहै तुम्हार मर्म मैं जाना" से लेकर "तबलगि न तुलसीदास नाथ कृपालु पार उतारि हौं" तक, और "नाथ आजु मैं काह न पावा से "सो प्रसादु मैं सिर धरि लेबा" तक।

अन्तःकरण आर्द्रत्व –

अति आनन्द उमङ्गि अनुरागा।

अतएव कुछ देर सरकार से भाषण कर लेने के लिये ही "न केवट आना"। केवट नाव नहीं ला रहा है।

भावार्थ – १६

जिस प्रकार पिता गृह का स्वामी होते हुए भी अपने अबोध बालक से किसी वस्तु की याचना करे, और वह बालक विनोदवश वह वस्तु अपने पिता को न देकर नाहीं कर दे, तो पिता को परमानन्द प्राप्त होता है। केवट सोचता है सरकार पिता हैं, मैं अबोध बालक हूँ। नाव के माँगने पर यदि मैं बाल चापल्य से नाहीं कर दूँगा, तो सरकार को वात्सल्य रस का सुख प्राप्त होगा। इसीलिये "न केवट आना"।

कहइ तुम्हार मरम मैं जाना

भावार्थ – १

श्री राघव ने "माँगी नाव" – नाव माँगी, किन्तु "न केवट आना" – केवट नाव नहीं लाया। तब श्री लक्ष्मण जी धीरे से कहने लगे कि यदि यह केवट नाव न लाये, तो किसी दूसरे को बुला लीजिये। तब केवट कहता है कि "न केवट आना" – केवट यहाँ मैं ही हूँ, दूसरा केवट यहाँ है ही नहीं, मेरा ही पार उतारने का ठेका है। तब श्री राघव ने कहा कि भाई हम दूसरा केवट बुलाते ही कहाँ है? तो कहता है कि नहीं, आपके भ्राता जी जो गुप्त रूप से आपसे कह रहे थे कि दूसरा कोई केवट बुला लीजिये। यह "मरम मैं जाना" – यह भेद मैं जान गया। बड़े आश्चर्य की बात है कि –

ध्यान द्वारा शम्भु ने बिचारा जिन्हें बार बार,
पाकर न मर्म बोले क्लिष्ट मानता हूँ मैं।
जिनके लिये विरञ्चि ने भी है पुकारा यही,
पाता हूँ न मर्म सर्व सृष्टि छानता हूँ मैं॥
"बिन्दु" वेद शास्त्र का प्रमाण कहता है जिन्हें,
नेति नेति मर्म आपका बखानता हूँ मैं।
प्यारा भक्त केवट विचारा कहता है उन्हें,

हे प्रभु तुम्हारा सारा मर्म जानता हूँ मैं॥

भावार्थ – २

कल रात्रि को जब श्री राघव सरकार शयन करने लगे तब निषाद ने –

गुह बुलाइ पाहरू प्रतीती।
ठाँव ठाँव राखे अति प्रीती॥

उन्हीं पहरेदारों में यह केवट भी था। क्योंकि पहरा ग्रामीण राज्य का था, जहाँ पहरेदार पृथक् नहीं होते, सब ग्राम वासी ही प्रत्येक कार्य कर लेते हैं। इसने निषाद से श्री लक्ष्मण जी को यह कहते सुना कि –

होइ बिबेकु मोह भ्रम भागा।
तब रघुनाथ चरन अनुरागा॥
सखा परम परमारथु एहू।
मन क्रम बचन राम पद नेहू॥
राम ब्रह्म परमारथ रूपा।
अबिगत अलख अनादि अनूपा॥
सकल बिकार रहित गत भेदा।
कहि नित नेति निरूपहिं वेदा॥

भगत भूमि भूसुर सुरभि, सुर हित लागि कृपाल।
करत चरित धरि मनुज तनु, सुनत मिटहिं जग जाल॥

सखा समुझि अस परि हरि मोहू।
सिय रघुबीर चरण रत होहू॥

बस फिर क्या था? केवट समझ गया कि निषाद को श्री लक्ष्मणजी ने तीन बार चरण की ही उपासना का उपदेश दिया है, फिर भला मैं ही इन चरणों को क्यों छोड़ दूँ। अतः सरकार को इशारा देता है कि यद्यपि

उपदेश तो श्री लक्ष्मण जी ने मेरे स्वामी (निषाद) को ही दिया था, उन्होंने इस विषय में कुछ जाना या नहीं सो तो मैं नहीं कह सकता, परन्तु यह निश्चय जानिये कि "तुम्हार मरम मैं जाना"। अतः मैं तो अब चरण रज लेकर ही आपको पार जाने दूँगा।

भावार्थ – ३

महर्षि विश्वामित्र जी की सिफ़ारिश और सहस्रों वर्ष की तपस्विनी अहिल्या के लिये भी यदि आपसे प्रार्थना पूर्वक चरण रज माँगी जाती है, तो आप कठिनता से देते हैं। परन्तु वही श्री चरण रज पाँव में "जाबक" लगाने के बहाने, बिना किसी उज्र या सिफारिश के मिथिला की नाइनों तक को मुफ्त में मिल जाती है। इससे यह साबित है कि सिफ़ारिशी और तपस्वियों को तो यह श्री चरण रज बड़ी कठिनता से मिलती है, मगर बहाने से बहुत जल्द प्राप्त हो जाती है। फिर मेरा वहाँ कोई सिफारिशी भी नहीं है, और मैं इतना तपस्वी भी नहीं हूँ, तो मैं किसी बहाने से ही क्यों न सरकार की श्री चरण रज ले लूँ? अतः आपके इस प्रकार रज देने के मर्म को मैं भली प्रकार जानता हूँ।

भावार्थ – ४

यह आपका नियम है कि आप जिससे कुछ माँगते हो या लेते हो, उसे कुछ देते अवश्य हो।

१. – श्री विश्वामित्र से, बला अति बला विद्या और समस्त शस्त्रास्त्र ले लिए, तब उन्हें अपना परम प्रेम प्रदान किया।

२. – श्री जनक जी से मन लिया, तब उन्हें प्रेम दिया यथा –

इनहिं बिलोकत अति अनुरागा।
बरबस ब्रह्म सुखहिं मन त्यागा॥

३. – शंकर चाप से श्री जानकी जी ले लीं, तब उसे मोक्ष दिया।

४. – परशुराम से दिव्य धन्वा लिया तब उन्हें ज्ञान दिया ... इत्यादि।

इसी प्रकार आज मुझे कुछ देने के लिए नाव ले रहे हो, सो यह "तुम्हार मरम मैं जाना"।

भावार्थ – ५

यह केवट वसिष्ठ पुत्र वामदेव है। कृतिवास रामायण के बालकाण्ड सर्ग ८१ में गुह के सम्वाद में, वह कथा इस प्रकार आई है कि श्री वसिष्ठ जी के एक पुत्र थे जिनका नाम वामदेव था। उनके पास एक दिन श्रवण बध पातक से व्याकुल हुए राजा दशरथ गये और उन्होंने कहा कि भगवन्! मुझसे तापस बध का अपराध हुआ है, इसका आप कोई प्रायश्चित बतला दें। वसिष्ठ पुत्र ने विचार किया कि पिता गृह में है नहीं, यज्ञादिक कर्म हो नहीं सकते, अतः भगवन्नाम ही सर्वश्रेष्ठ पातक हरण में समर्थ है। राजा को आज्ञा दी कि तीन बार श्रीराम नाम का जाप करो। तुम्हारा यह पाप नष्ट हो जायगा। दशरथ ने वैसा ही करके गृह को प्रस्थान किया। बाद में जब श्री वसिष्ठ जी घर में आये, और उनसे उनके पुत्र ने कहा कि मैंने तीन बार दशरथ से श्रीराम नाम का उच्चारण कराकर हत्या पाप से उन्हें मुक्त कर दिया है, तब तो श्री वसिष्ठ जी अपने पुत्र पर बड़े ही अप्रसन्न हुए और कहा कि अरे मूर्ख! हत्या के पाप से मुक्त करने के लिए दशरथ से तूने तीन बार श्री राम नाम क्यों उच्चारण कराया? सहस्रों पातकों को तो केवल अर्ध नाम (अर्थात् रकार) ही नष्ट कर देता है? सो तूने जरा से पातक के लिये तीन बार श्रीराम नाम का उच्चारण कराया? अतः तू श्रीराम नाम के माहात्म्य को नहीं जानता। इसलिये मेरा शाप है कि तू नीच निषाद कुल में जन्म ग्रहण कर। तब वसिष्ठ पुत्र ने व्याकुल होकर अपने पिता से शापोद्धार पूछा, तो वसिष्ठ ने कहा कि जिनके नाम की महिमा तू नहीं जान सका है वही जब अवतार लेंगे, और तेरा उनका जब सम्मिलन होगा, तभी तू इस नाम के माहात्म्य को जान सकेगा और तभी तू कुछ काल तक उनके श्री चरणों की भक्ति करते हुए उस योनि को त्याग कर पुनः दिव्य शरीर प्राप्त करेगा। वही वसिष्ठ पुत्र यह केवट है – जो सरकार से कह रहा है कि आप का मर्म यहाँ और कोई नहीं जानता कि आप मुझ से नौका क्यों माँग रहे हैं? यह "तुम्हार मरम मैं जाना"।

भावार्थ – ६

किसी व्यक्ति का किसी व्यक्ति से कुछ माँगने का विचार हो, परन्तु वह व्यक्ति (जिससे दूसरा व्यक्ति कुछ माँगना चाहता हो, माँगने वाले का आशय समझकर) पहले ही माँगने वाले से माँगने लगे। तो माँगने वाला कहता है कि धन्य है आपका मर्म, हम भली प्रकार जान गये, जिससे कुछ देना न पड़े इसलिये आप हमसे ही उल्टे माँग रहे हैं। इसी प्रकार केवट चाहता था कि भवसागर पार होने की नौका, हम आज ही श्रीदशरथ नन्दन से माँगेंगे। परन्तु सरकार उसका मर्म जान कर, उससे ही गंगा पार होने को नाव माँगने लगे। तब केवट कहने लगा कि आप भवसागर पार करने वाले श्री चरण कमल नौका से मुझे वंचित रखना चाहते हैं, यह मर्म मैं जान गया।

भावार्थ – ७

श्री राघव के नाव माँगने पर केवट को इतनी बहस करने की क्या आवश्यकता थी? नाव माँगी गई तो श्रद्धा से ले आता?

यह बात है कि श्रीरघुनन्दन अभी अभी सुमन्त्र को बड़ी ही करुण दशा में छोड़ कर आए हैं। इसलिए श्रीराम, लक्ष्मण और मैथिली तीनों ही उदास हैं। और जाने वाले अतिथि को उदास नहीं भेजना चाहिए। इसलिए केवट इस विनोद के द्वारा इन प्राणप्रिय अतिथियों को प्रसन्न कर रहा है।

भावार्थ – ८

जीवन में यह अतिथि आज ही तो मिले हैं, जिन्हें बड़े बड़े योगी, महात्मा, भक्त पाने के लिए तो क्या, ध्यान में लाने के लिए भी तरसते रहते हैं। फिर उन्हें आज भली प्रकार देखकर, हृदय में बिठाल ही क्यों न लूँ? जाने फिर जीवन में मिलें या न मिलें। इसलिए घाट पर श्री राघव के पधारते ही केवट ने यह झाँकी हृदय में बैठालना प्रारम्भ की। परन्तु तत्काल ही सोचा कि यह मूर्ति प्रसन्न नहीं है और यह "विशेष उदासी" मूर्ति मुझ जैसे गृहस्थ के काम की नहीं, यह तो किसी उदासी के ही

काम की हो सकती है। तब केवट ने इस मधुर मूर्ति-त्रय को हँसाने का प्रयत्न किया जिससे यह तीनों मूर्ति हँस पड़ें, तो मैं वही चित्र हृदय में अङ्कित कर लूँ। यही कारण केवट के इस मनोरञ्जन का है। आजकल भी जब फोटोग्राफर किसी का चित्र उतारने लगता है तो कहता है कि "जरा हँसता हुआ चेहरा रखिए"। फिर भला केवट क्यों उदास चेहरे वाला फोटो उतारता ?

भावार्थ - ९

फोटो तो एक क्षण में ही उतरता है, किन्तु उसकी तैयारी, परिस्थिति इङ्गितकोण बनाने में काफी देर लगती है। केवट यह चित्र खींचने के लिए काफी देर तक तीनों ही अतिथियों को रोके रहना चाहता है, इसलिये विनोद का प्रसंग भी उसने काफी बड़ा और सरल एवं चित्त को रुचिकर लगने वाला रखा जिसमें इनका जी भी न ऊबे, और मेरा काम भी बन जाय।

भावार्थ - १०

प्रेमी अपने प्रिय को देखकर तृप्ति नहीं मानता है। वह उसे देखने के लिए रोक रखना चाहता है, और अकारण रोकना तो असंगत है। इसलिए प्रिय को रोकने के लिए अनेकों बहाने ढूँढ़ता है और उन्हीं बहानों में से कई एक बहाने लेकर जब तक हो सके, अपने प्रिय को रोके रखता है। यही केवट की भी अन्तर्दशा है -

वो आज भूल के इस ओर जो आ निकले हैं।
मेरे अरमान मचलते हैं निकलने के लिए॥
जी चाहता है छेड़के हों, उनसे हम कलाम।
कुछ तो लगेगी देर, सवालो जवाब में॥
बनने, बिगड़ने, रूठने, हँसने में लुत्फ़ है।
जब तक कि छेड़ छाड़ न हो, कुछ मज़ा नहीं॥

चरण कमल रज कहुँ सबु कहई

चरण कमल रज कहुँ सबु कहई।
मानुष करनि मूरि कछु अहई॥

क्षालवामि तव पाद पङ्कजं,
नाथ दारु दृषदोः किमन्तम्
मानुषी करण चूर्ण मस्तिते,
इति लोके हि कथा प्रथीयसी॥

** यह अर्धश्लोक इस चौपाई से नहीं मिलता, इसका साम्य आगे है।*

आपके चरण कमलों को धोऊँगा, क्योंकि हे नाथ! लकड़ी और शिला में क्या अन्तर है। आपके चरण कमल की धूल मनुष्य के लिए चूर्ण है, संसार भर में यह कथा प्रसिद्ध है।

श्लोक से चौपाई में विशेषता

चूर्ण में पाचन, विकारादि शमन, बल वीर्यादि वर्धन गुण तो अवश्य है, किन्तु उत्पादन शक्ति, मूरि (मूल) में ही हो सकती है। मूल से ही वृक्ष और वृक्ष से फलादिक होते हैं। यहाँ गोस्वामी जी का भाव यह है कि आपके चरणों की रज मनुष्य बनाने का मूल कारण है, क्योंकि यह समस्त सृष्टि आपकी चतुष्पदी विभूति ही तो है। यथा –

पादोस्य विश्व भूतानि, त्रिपादस्यामृतं दिवि।

(पुरुष सूक्त)

अर्थात् भगवान विराट् का यह समस्त विश्वभूत (पदार्थ) एक पाद है, अथवा स्वर्ग लोकादिक ही हैं। इसलिए आपकी चरण रज ही "मानुष करनि मूरि" (मूल) मूलाधार प्रकृति है, जो मनुष्यादि की उत्पत्ति वृद्धि इत्यादि करने में समर्थ है। यही चूर्ण से मूरि में विशेषता है। यदि कहो कि संस्कृत कवि ने चूर्ण क्यों लिखा? तो इसका समाधान यह है कि संस्कृत

कवि ने रूपकालङ्कार लिया है। चरण रज का रूपक चूर्ण से मिलता है, परन्तु मूरि (मूल) का रूपक रज से नहीं मिलता है, फिर भी श्री गोस्वामी जी भावालङ्कार को लेकर चले हैं जो रूपक से अधिक महत्व रखता है।

भावार्थ – १

इशारा है कि आपकी श्री चरण रज ही तो मनुष्य को मनुष्य कर देती है, यदि आपकी चरण रज न हो तो मनुष्य भी पशु के ही समान है। यथा –

ते नर नरक रूप जीवत जग,
भव भंजन पद विमुख अभागी।
निशि बासर रुचि पाप अशुचि मन,
खल मति मलिन निगमपथ त्यागी॥
नहिं सत-संग भजन नहिं हरि को,
श्रवण न राम कथा अनुरागी।
सुत बित दार भवन ममता निशि,
सोवत अति न कबहुँ मति जागी॥
तुलसिदास हरि नाम सुधा तजि,
शठ हठि पियत विषय विष माँगी।
सूकर स्वान शृगाल सरिस जन,
जनमत जगत जननि दुखलागी॥

(विनय पत्रिका)

भावार्थ – २

"सब कहई" – अर्थात् आप यह शङ्का न करें कि मैं ही आपकी चरण रज को दोष दे रहा हूँ, बल्कि मैं तो जानता भी नहीं हूँ जो सब लोग कहते हैं, वह मैंने सुना अवश्य है और यदि आपकी चरण रज में यह बात होती नहीं, तो दो-चार मनुष्य ही कहते, परन्तु सभी लोग जो एक स्वर से कहते हैं, इससे प्रत्यक्ष है कि यह सत्य है। अब सब लोग

कहते क्या हैं? वह भी सुन लीजिए –

* गायन *

जो हरि भक्तों की दुनियाँ है वो यह गुणगान करती है।
कि प्रभु पद कंज रज दासों को जीवन दान करती है॥
न जानें कौनसी चैतन्यता है इसके कण-कण में।
कि जो जड़ जल की धारा में भी पैदा जान करती है॥
जिसे बाँधा था हरि ने, उसके जब सर पर ये पड़ती है।
तो बलि के द्वार पर प्रभु का निवास स्थान करती है॥
न क्यों इन्सानियत देगी हमारे मोम दिल को भी।
कि जब यह खुश्क दिल पत्थर को भी इन्सान करती है॥
गज़ब है इसके धोवन जल का जो इक "बिन्दु" भी छूले।
उसे यह विष्णु, ब्रह्मा और शिव भगवान करती है॥

सब कहई

१ – जनकपुर की नारियाँ

बिप्रकाजु करि बन्धु दोउ मग मुनि बधू उधारि।
आये देखन चाप मख, सुनि हरषीं सब नारि॥

सखि इन्ह कहँ कोउ कोउ अस कहहीं।
बड़ प्रभाउ देखत लघु अहहीं॥
परसि जासु पद पंकज धूरी।
तरी अहल्या कृत अघ भूरी॥
सो कि रहिहि बिनु सिवधनु तोरें।
यह प्रतीति परिहरिअ न भोरें॥

२ – श्री जानकी जी

सखीं कहहिं प्रभु पद गहु सीता।
करति न चरन परस अति भीता॥

गौतम तिय गति सुरति करि, नहिं परसति पद पानि।
मन बिहसे रघुबंसमनि, प्रीति अलौकिक जानि॥

३ – श्री राम विवाह

लागे पखारन पाँय पंकज,
प्रेम तन पुलकावली।
नभ नगर गान निसान जय धुनि,
उमगि जनु चहुँ दिसि चली॥
जे पद सरोज मनोज अरि उर,
सर सदैव बिराजहीं।
जे सुकृत सुमिरत बिमलता मन,
सकल कलि मल भाजहीं॥
जे परसि मुनि बनिता लही गति,
रही जो पातक मई।
मकरंदु जिन्ह को संभुसिर,
सुचिता अवधि सुर बरनई॥
करि मधुप मन मुनि जोगि जन,
जे सेइ अभिमत गति लहैं।
ते पद पखारत भाग्यभाजनु,
जनकु जय जय सब कहैं॥

४ – श्री कौशिल्या

मारग जाति भयावनि भारी।
केहि बिधि तात ताड़का मारी॥

घोर निसाचर बिकट भट, सम गनहिं नहिं काहु।
मारे सहित सहाय किमि, खल मारीच सुबाहु॥

मुनि प्रसाद बलि तात तुम्हारी।
ईस अनेक करवरें टारी॥
मख रखवारी करि दुहुँ भाई।
गुरु प्रसाद सब विद्या पाई॥
मुनि तिय तरी लगत पग धूरी।
कीरति रही भुवन भरि पूरी॥

५ – विभीषण

चलेउ हरषि रघुनायक पाहीं।
करत मनोरथ बहु मन माँहीं॥
देखिहउँ जाई चरन जल जाता।
अरुन मृदुल सेवक सुख दाता॥
जे पद परसि तरी रिषि नारी।
दण्डक कानन पावनकारी॥

उपरोक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि "सब कहई" अर्थात् यह बात बहुत प्रसिद्ध हो चुकी है, केवल मैं ही कहने का अपराधी नहीं हूँ। यदि ऐसा कहना अपराध है और उसका कुछ दण्ड हो, तो कृपया उपरोक्त दण्ड सभी अपराधियों को दिया जाय, अकेले मुझे नहीं।

अजब कुछ ठाट से इस भक्त का लापरवाह बैठा है।
किसी की राह में अड़कर बना गुमराह बैठा है॥
दबाकर प्रेम की दिल में अनोखी आह बैठा है।
लिए नौका को अपनी मस्त सा मल्लाह बैठा है॥
कहा श्री राम ने केवट जरा लाना इधर नौका।
तो कहता है कि भगवन्! मैं न लाऊँगा उधर नौका॥
प्रथम संकोच तो यह है सभी संसार कहता है।

कि भगवन् आप में ही यह अखिल ब्रह्माण्ड रहता है॥
अनुज भी आपके भगवन्! न कुछ कम भार वाले हैं।
सुना जाता है अपने शीश पर पृथ्वी सम्हाले हैं॥
जगज्जननी प्रकृति श्री मैथिली भी तो यहाँ पर हैं।
कि जिन पर विश्व के परिवार का सब भार निर्भर है॥
पुरानी नाव मेरी किस तरह से पार पाएगी।
प्रभो इस भार से मझधार में ही डूब जाएगी॥

छुवत सिला भई नारि सुहाई

छुवत सिला भई नारि सुहाई।
पाहन तें न काठ कठिनाई॥
तरनिउ मुनि घरिनी होइ जाई।
बाट परइ मोरि नाव उड़ाई॥

नो चेत् त्वत्पाद रजसा स्पृष्टा नारी भविष्यति॥

(आनन्द रामायण)

नहीं तो तुम्हारी चरण रज स्पर्श करके यह नौका नारी हो जायगी। श्लोक का भाव है कि नौका आपकी चरण रज स्पर्श करने से नारी हो जायगी, केवल एक हानि है। परन्तु गोस्वामी जी का भाव है कि नारी तो होगी ही, किन्तु नारी होकर भी केवट की नारी न होगी, मुनि घरनी हो जायगी, फिर मुनि घरनी होकर भी यहाँ रहेगी नहीं, "उड़ाई" – उड़ जायगी। अतः एक तो – नौका से नारी होना, दूसरे – मुनि की नारी होना, तीसरे – फिर उड़ जाना, यह तीन हानियाँ हो रही हैं। इस कारण नाव नहीं देता हूँ।

भावार्थ – १

कुछ और बन जाती तो भी सन्तोष होता कि सोना, चाँदी या रत्न

की बन जायगी, परिवार का पालन होगा, परन्तु बनेगी भी तो नारी – क्योंकि आपकी चरण रज ने तो अभी तक नारी ही बनाया है। तो फिर नारी बन जाने पर जो परिवार पालन करता हूँ, वह वस्तु नष्ट कर दूँ और फिर मिले भी क्या एक और स्त्री, जो दूसरे परिवार वृद्धि की द्योतक है, ना महाराज मुझे न चाहिए।

अस्ति मे गृहणी गेहे किं करोम्यऽपरांस्त्रियम्

मेरे घर में एक स्त्री तो मौजूद है, मैं और स्त्री लेकर क्या करूँगा।

भावार्थ – २

यदि आप यह कहें कि लोग तो स्त्री लेने को उद्यत होते हैं, और तू नाहीं करता है? तो भगवन्! वैसे तो चाहे मैं एक के अतिरिक्त दूसरी स्त्री भी स्वीकृत कर लेता। परन्तु जब से आपका वन गमन देखा है, तब से तो मैं इस बात का कट्टर विरोधी हो गया हूँ कि किसी भी व्यक्ति को एक से अधिक स्त्री रखनी ही न चाहिए। क्योंकि श्री चक्रवर्ती जी महाराज के न कई स्त्री होतीं, न आप जैसे पुत्र को वनवास सहन करना पड़ता। इस कारण मैं दूसरी स्त्री नहीं चाहता।

भावार्थ – ३

यदि आप कहें कि वह शिला तो पहले से ही मुनि पत्नी थी, शाप से पत्थर की शिला बन गई थी। इस कारण उसका उद्धार हो गया, मगर तेरी नाव क्यों नारी बनेगी?

तो उत्तर देता है कि महाराज! माना कि वह शिला ऋषि पत्नी ही थी, परन्तु जब तक वह शिला रूप में थी तब तक तो वह पत्थर ही थी। जब आपकी चरण रज लगी तो वह मुनि घरनी हो गई। इसी प्रकार इस नाव को भी कौन जानता है कि शापित है या नहीं? यह तो जब आपके चरण रज की कसौटी पर चढ़ेगी, तो जैसे वह शिला गौतम की घरनी बन गई थी, वैसे ही यह भी काहू – "मुनि की घरनी ह्वै जाई", तब यह ज्ञात होगा कि यह तो शापित थी। यदि कहो कि शापित का उद्धार हो

जाय, तब तो अच्छा ही है, फिर मुझे एतराज क्या? तो सरकार तरणी तो "मुनि घरनी ह्वै जाई", यह ठीक है परन्तु डाका तो मेरी रोजी पर पड़ जायगा कि मेरी नाव "उड़ाई", इसलिए यदि यह शापित है तो इसे शापित ही रहने दीजिए, मैं इसका उद्धार नहीं कराना चाहता। हाँ, यदि आप चक्रवर्ती जी के कुमार पद पर प्रतिष्ठित होकर भी राज्य पर आसीन होते, और इस समय आपका सर्वाधिकार होता, तो यह भी कह देता कि चलो एक नाव का उद्धार हो गया तो हो जाने दो, सरकार दूसरी बनवा देंगे। परन्तु आप इस समय साधुवेश में हैं इसलिए ऐसा कर नहीं सकते, और मेरी दूसरी बनवा लेने की हैसियत नहीं है, इसलिये मैं नाव नहीं लाना चाहता।

एहिं प्रतिपालउँ सबु परिवारू।
नहि जानउँ कछु अउर कबारू॥

यदि कहो कि नाव चली जायगी तो भी क्या? तो सरकार इस नाव से ही सब परिवार पालता हूँ, इसके अलावा दूसरा कोई कबार (धन्धा) मैं नहीं जानता। यदि यह नाव चली गई तो भला मैं इन बाल-बच्चों का क्या करूंगा। यदि आप कहें कि यदि तू इस नौका के डर से हमें नाव पर न चढ़ायेगा, तो हम पार कैसे उतरेंगे? तो भगवन्! मैं तो एक नाव का ही धन्धा जानता हूँ, परन्तु आप तो कई धन्धे जानते हैं। आप अपना पैर बढ़ाना भी जानते हैं (बलि के यहाँ), पैर बढ़ाकर पार हो जाइए। चरण रज से पैदा करना भी जानते हैं (अहिल्या), कोई दूसरी नौका ही बना लीजिए। अग्निबाण चलाना भी जानते हैं (पावक सर सुबाहु पुनि मारा), नदी का जल शुष्क कर लीजिए। बाण द्वारा पार करना भी जानते हैं (सत जोजन गा सागर पारा), बाण पर ही बैठकर पार हो जाइये। मेरी नौका ही के पीछे आप क्यों पड़े हैं। आप को तो बहुत से ही कबार मालूम हैं, फिर मेरी रोजी पर धक्का क्यों दे रहे हैं?

जो प्रभु पार अवसि गा चहहू।

जो प्रभु पार अवसि गा चहहू।
मोहि पद पदुम पखारन कहहू॥

भावार्थ – १

ट्रेन का समय हो रहा हो, ताँगे वाला मुसाफिर से काफी किराया माँग रहा हो, मुसाफिर कुछ जवाब न देकर ताँगे वाले की हरकत पर विचार कर रहा हो, उस समय ताँगे वाला एकाएक कहता है कि बाबूजी! अगर आप को जाना जरूर है तब तो जो मैंने किराया कह दिया है वह ठीक है। आइये बैठिये, और अगर जरूर नहीं जाना है तो आपकी मर्जी।

यही नाट्य केवट भी कर रहा है, कि जो "प्रभु पार अवसि गा चहहू।" अगर आप जरूर जाना चाहते हैं, तब तो "मोहि पद पदुम पखारन कहहू", और अगर आप जरूरी जाना नहीं चाहते हैं, तो खड़े रहिए आप की मर्जी।

भावार्थ – २

यदि यह समझो कि "अवसि" पुख्ता इरादा पार जाने का है, तब तो मुझसे चरण धोने को कहो और अगर कुछ पार जाने में अभी हिचकिचाहट है, तो मुफ्त में अपनी करामाती चरण रज भी क्यों खो रहे हो? सुमन्त का रथ तैयार है, मजे में सवार होकर श्री अवध को पधारो।

भावार्थ – ३

"जो प्रभु" का भाव यह कि मैं जानता हूँ आप बड़ी सामर्थ्य वाले हैं, चाहें तो अपनी किसी भी करामात से पार हो सकते हैं। परन्तु आज यदि आपको अवश्य ही पार जाना है, तो "मोहि पद पदुम पखारन कहहु", क्योंकि यह घाट मेरा है, आप किसी भी प्रकार से पार होना चाहें तो भी मेरी इच्छा से हो सकेंगे। प्रभु हैं, तो अपने घर के हैं, मेरे घाट के नहीं।

भावार्थ – ४

"मोहि पद पदुम पखारन कहहू" क्यों? यदि निषाद को पद पदम पखारने को कह दें तो! न, यह नहीं हो सकता। निषादराज ने जीवन भर तो मुझसे इस शुष्क बालुका का कर वसूल किया है, आज दैवयोग से उसी मेरे ठेके की भूमि में यदि चिन्तामणि रत्न आ गया है तो क्या उसका हकदार निषाद होगा? कभी नहीं, मेरे ठेके की हद में तो मुझको ही कहिए। हाँ, यदि निषाद को ही चरण रज देना चाहें तो पार जाने की आशा छोड़ दीजिए और लौटकर उसके घर में जाकर उसे ही दे दीजिए, मुझे कोई उज्र नहीं। मगर इस समय "अवसि पार गा चहहू", तब तो मेरा हक है।

न नाथ उतराई चहौं

पद कमल धोइ चढाइ नाव, न नाथ उतराई चहौं।
मोहि राम राउरि आन दसरथ शपथ सब साची कहौं॥

पदाम्बुजं ते प्रक्षाल्य, नावमारोह यामिनो।
कर मूल्यं न ग्रहीष्यामि, शपथो मेऽपिते पितुः॥

(वसिष्ठ रामायण)

तुम्हारे चरणों को धोकर, नाव पर चढ़ाऊँगा। कर का मूल्य नहीं लूँगा, तुम्हारे पिता की शपथ है।

श्लोक में "कर मूल्यं" है, जो कि राजा ही ले सकता है, केवट नहीं। परन्तु गोस्वामी जी "न उतराई चहौं" कहकर इस आशय को सम्हाल रहे हैं।

दूसरा शब्द है "ग्रहीष्यामि", यह भी राज्याभिमान मिश्रित है। परन्तु गोस्वामी जी इसी को "चहौं" से इतना सरस कर देते हैं कि धारा प्रवाह दीनता बहने लगती है।

संस्कृत में कदाचित् "नावमानय मे सखे" का सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है। अतः सरकार का सखा तो निषाद राज ही है, वह उपरोक्त शब्द कह सकता है। परन्तु श्रीगोस्वामी जी तो नाविक केवट को मानते हैं, निषाद को नहीं।

अन्य दिग्दर्शक –

आदावर्ह क्षालयित्वा, हाररेणूं स्तव प्रभो।
पश्चानौकां स्पर्शयामि, तव पादौ रघूद्वह॥

(आनन्द रामायण)

हे श्री रघुनाथ जी! पहले आपकी चरण रेणु को धोकर, पीछे मैं आपके चरणों को स्पर्श कराऊँगा।

पादाम्बुजं ते विमलं हि कृत्वा,
पश्चात् परं तीरं अहं नयामि।
नो चेत् तरिः सद्युवती मलेन,
स्याचचेद् विभो विद्धि कुटम्बहानिः।

आपके चरण कमलों को विमल करके, उसके बाद आपको मैं उस पार ले चलूँगा, नहीं तो रेणु स्पर्श से नौका नारी हो जाय तो, हे नाथ! यह आप निश्चय समझें कि मेरे कुटुम्ब की हानि है।

भावार्थ – १

"चढाइ" धोकर, आपको कन्धे पर बिठाकर नाव पर चढ़ा दूँगा, क्योंकि पाँव धुल जाने के बाद यदि आप रमणरेती में चलेंगे तो फिर रज लग जायगी। फिर धोने का फ़ायदा ही क्या रहेगा, और वह जादू जो कुछ है चरण रज में है चरणों में नहीं, इस कारण "चढ़ाय"।

भावार्थ – २

कितना होशियार है, जो कहता है कि –

न नाथ उतराई चहौं

जैसे कोई सुनार अपने किसी मित्र का जेवर बनाकर जब साफ करता है (रेती से), तब उसे इतना रेत लेता है कि मजूरी से चौगुनी उसकी रेतन निकल आती है। फिर मित्र उसे जब बनवाई देने लगता है तो कहता है – अरे भाई तुम हमारे मित्र हो, अब हम तुमसे क्या मजदूरी लें! अहसान भी इतना बड़ा कर दिया, इसी प्रकार दर्जी भी करते हैं। वही हाल यहाँ केवट का है कि चरण रज जो त्रिलोक विभूति से बढ़ कर है। वह रज तो धोने के बहाने ले ही लेगा मगर अहसान इतना बड़ा करता है कि "न नाथ उतराई चहौं" अर्थात् मुफ्त ही पार उतार दूँगा।

भावार्थ – ३

"उतराई न लूँगा" यह कहकर लालच दिखा रहा है कि अगर उतराई की बचत करना चाहो तो पैर धुलवा लो। यदि कहो कि उतराई दे देंगे, तो साधु वेष में तुम दोगे ही क्या और दो भी तो लेना ठीक नहीं है।

भावार्थ – ४

उतराई माँगने लगूँ तो आप दे नहीं सकते, क्योंकि आप जमाने भर को पार उतारते हैं। फिर आपको जो पार उतारे उसे निहाल ही हो जाना चाहिए। फिर आप अतुल हैं, आपके बराबर कोई वस्तु नहीं जो आप दे दें। इसलिये जाने दीजिये, उतराई का मोह मैं छोड़ देता हूँ, किन्तु चरण रज का मोह आप छोड़ दें।

भावार्थ – ५

यदि कहो उस पार हो जाने पर, तू फिर चरण रज माँगने लगे तो। या पहले ही क्यों ले रहा है, उस पार चलकर ले लेना – तो कहता है कि "(इत) पद कमल धोय चढ़ाय नाव, न नाथ (उत) राई चहौं" अर्थात् इसी पार यह चरण रज ले लूँगा, उस पार तो राई भर भी रज नही माँगूगा।

अब शंका यह होती है कि यदि उस पार तू राई भर भी रज नहीं चाहता है, तो इसी पार की रज क्यों माँग रहा है? इसका कारण यह है कि यह रज श्री अवधपुरी से साथ आई है और श्री अवध रज का प्रभाव

है कि –

जेहि दिन राम जनम श्रुति गावहिं।
तीरथ सकल तहाँ चलि आवहिं॥

चारि खानि जग जीव अपारा।
अवध तजे तन नहिं संसारा॥

इसलिये मैं यही रज चाहता हूँ, उस पार बन की नहीं चाहता। दूसरा कारण यह है कि औषधि वही अच्छी है जो परीक्षित हो, अपरीक्षित का कोई भरोसा नहीं। यह रजौषधि अहिल्या पर चल चुकी है, उसे लाभ भी हुआ है, वही दवा मुझे भी लागू होगी क्योंकि दर्जा दोनों का एक ही है। वह भी शापित है और मैं भी शापित हूँ (कृत्तिवास रामायण प्रसंग देखो)। उस पार आगे वन में न जाने कैसी रज तैयार हो? उसमें यह असर रहे न रहे, क्योंकि मिट्टी का असर, जल का असर, प्रत्येक स्थान का बदलता रहता है। कहीं की मिर्च इतनी कड़वी होती है कि जबान पर रक्खी नहीं जाती, कहीं मिर्च का साग बनाया जाता है। इसलिए मुझे इसकी ही रज चाहिए "न नाथ उतराई चहौं।"

भावार्थ – ६

हे नाथ! और जो यात्री मेरी नाव पर चढ़ते हैं, उनकी तो उतराई (अर्थात् ये जल्दी उतर जायँ) चाहता हूँ। मगर आप के "पद कमल धोय" (धोकर) "चढ़ाय नाव" (उस शरीर नाव में चढ़ाकर फिर) "न नाथ उतराई चहौं", इनकी उतराई (अर्थात् उतर जाना) नहीं चाहता। यथा –

यूँ तो कहने के लिए रंग हैं दुनिया में सभी।
रंग वो है कि जो चढ़ जाय तो उतरे न कभी॥
रंग लाखों हैं मगर सबका असर जाता है।
दम में चढ़ता है तो दम भर में उतर जाता है॥
रंग सब खुद में छिपा ले ये सिफ़त श्याम में है।
रंग अपना सा बना ले ये सिफ़त श्याम में है॥

भावार्थ – ७

उतराई न लूँगा। कारण? –

तारकात्! तारको राम! नापितान्नच नापितः।
कर मूल्यं न ग्रहह्मीयादेव धर्मः सनातनः॥

मल्लाह से मल्लाह और नाई से नाई कर मूल्य न ग्रहण करे, यही सनातन धर्म है। इसलिए "न नाथ उतराई चहौं", क्योंकि आप भी तो भवसागर के मल्लाह हैं।

भावार्थ – ८

यदि उतराई माँग लूँगा, तब तो वाकई मुँह माँगी हुई वस्तु मिलेगी और यदि न माँगू तो न जाने क्या अमूल्य वस्तु मिल जाय? और ऐसा ही हुआ भी। यथा –

बहुत कीन्ह प्रभु लखन सिय, नहिं कछु केवट लेइ।
विदा कीन्ह करुणायतन, भगति विमल बर देइ॥

कहिए! कितनी अनमोल वस्तु मिल गई। जिसके लिए कागभुशुण्डि भी कहते हैं कि –

सब सुख देन कहेहु प्रभु सही।
भगति आपनी देन न कही॥

चतुर लोगों का यही कायदा है। आज भी गाड़ी-ताँगे वाले, बड़े आदमियों से किराया तय नहीं करते कि बिना तय किये किराया ज्यादा मिलेगा।

भावार्थ – ९

मैं मजदूरी माँगूँगा, तो अपनी ही जाति कुल की तुच्छता के अनुसार माँगूँगा, और आप यदि स्वयं ही देंगे तो अपनी योग्यता के अनुसार देंगे। इसलिए आपका ही देना ठीक है।

भावार्थ – १०

रोगी की चाही हुई औषधि वैद्य देता थोड़े ही है, वैद्य तो अपनी ही इच्छानुसार देता है। यथा –

कुपथ माँग रुज व्याकुल रोगी।
वैद्य न देइ सुनहु मुनि योगी॥

इसलिए, मैं स्वयं उतराई नहीं चाहता, जो आप की इच्छा हो वह आप ही दे देना। यदि कहो कि फिर रज ही क्यों अपनी इच्छा से माँग रहा है? तो यह कुपथ नहीं है – ताप शान्ति का उपचार है।

दसरथ सपथ सब साची कहौं

मोहि राम राउरि आन दसरथ सपथ सब साची कहौं।

भावार्थ – १

शपथ में केवट ने कहा कि मुझे तुम्हारी क़सम और तुम्हारे पिता की क़सम है कि मैं सत्य कहता हूँ (ऐसा ही पहले वसिष्ठ रामायण का श्लोक दे चुके हैं)। परन्तु गोस्वामी जी इस ग्राम्य दोष को सँभाल कर लिख रहे हैं, कि "दशरथ शपथ"।

भावार्थ – २

राम जी और दशरथ जी की शपथ करके अपनी प्रतिज्ञा की सत्यता का प्रमाण देता है। यथा –

जो नहिं फिरहिं धीर दोउ भाई।
सत्य संघ दृढ़ व्रत दोउ भाई॥

आपने पिता की आज्ञा का पालन किया है कि उनके वाक्य असत्य नहीं होने दिये, और उन्होंने ही आपको सत्यसन्ध भी कहा तथा दृढ़ व्रत

भी, तो फिर आप उनकी दी हुई इस उपाधि को झूठी न होने देंगे। अतः सभ्यता के आप प्रतीक हैं, पहले आपकी सौगन्ध। और –

राखेउ राउ सत्य मोहिं त्यागी।
तन परिहरेउ प्रेम पन लागी॥

इसलिए आपके पिता की शपथ – जब आप दोनों ही (जिनकी शपथ की जा रही है) ऐसे सत्योपासक हैं, तो शपथ करने वाला मैं क्यों न सत्य प्रतिज्ञ हूँगा।

भावार्थ – ३

शपथ से यह सूचित करता है कि –

राज्ञि धर्मिणि धर्मिष्ठाः पापे पापाः समे समाः।
प्रजास्तदनुवर्त्तन्ते यथा राजा तथा प्रजा॥

राजा धर्मात्मा होगा तो प्रजा भी धर्मात्मा होगी, राजा पापी होगा तो प्रजा भी पापरत होगी, राजा सम होगा तो प्रजा भी सम होगी, तात्पर्य जैसा राजा होगा वैसी ही प्रजा होगी। आशय यह कि आप और आपके पिता हमारे राजा हैं, हम आप दोनों की ही प्रजा हैं। यदि वास्तव में आप दोनों सत्य प्रतिज्ञ हैं, तब तो मेरी प्रतिज्ञा सत्य होगी (आपके चरण की रज मिल ही जायगी) और यदि मेरी प्रतिज्ञा सत्य न हुई (चरण रज न मिली) तो फिर आपके भी या आपके पिता के भी सत्य में कोई फ़र्क होना चाहिए। भाव यह कि इसी लज्जा से सरकार श्री चरण रज दे दें। केवट की शपथ "न नाथ उतराई चहौं" के लिये कदापि नहीं है, यह शपथ तो केवल "जब लगि न पाँय पखारिहौं, तब लगि न पार उतारिहौं" के लिये है, यह ध्रुव सत्य है।

भावार्थ – ४

"तुम्हारे पिता की शपथ" इसलिये न कहा कि नर नाट्य में तो दशरथ आपके पिता हैं, परन्तु वास्तव में तो आप ही जगत् के पिता हैं,

इसलिये पिता न कह कर "दशरथ" नाम ही लिया।

भावार्थ – ५

"राम राउरि आन" – आन वह है जो किसी के प्रति मान ली जाय। तो मैं आपकी उस आन को मानता हूँ जो आपने सुमन्त्र से कही है। यथा –

धर्म न दूसर सत्य समाना।
आगम निगम पुराण बखाना॥

"दशरथ शपथ" – शपथ उसकी ली जाती है जो सबसे अधिक पूज्य या प्रिय होता है। तो दशरथ जी मेरे पूज्य भी हैं और सबसे अधिक प्रिय हैं, क्योंकि उन्होंने आपके लिये प्राण बलिदान कर दिये। इसी प्रकार मैं भी आपकी श्री चरण रज के लिये प्राण बलिदान कर दूँगा। इसीलिये "आन" और "शपथ" दो शब्द कहे।

जब लगि न पाय पखारिहौं

बरु तीर मारहुँ लखनु पै जब लगि न पाय पखारिहौं।
तब लगि न तुलसीदास नाथ कृपाल पारु उतारिहौं॥

लक्ष्मणो मां शरैर्हन्यात्, अप्रक्षाल्य पदाम्बुजम्।
पारं नोत्तारयिष्यामि, सत्य मेव वदाम्यहम्॥

(वसिष्ठ रामायण)

(चाहे) लक्ष्मण मुझे तीरों से मारें, (परन्तु) चरण धोये बिना (मैं आपको) पार नहीं उतारूंगा, मैं (यह) सत्य कह रहा हूँ।

विशेषता

संस्कृत में "नाथ कृपालु" यह दो शब्द नहीं हैं, श्रीगोस्वामी जी ने

ये दो विशेषण देकर परम सूक्ष्मभाव प्रदर्शित किया है। वह यह कि केवट का वास्तविक अबोधत्व तो संस्कृत में है कि केवट सरकार के चरणों को नारी बना देने वाला समझता है। इसलिए अबोध होने के कारण पैर धोना चाहता है। परन्तु गोस्वामी जी का केवट जानता सब है, लेकिन धोने का बहाना करता है। सारांश यह है कि वसिष्ठ रामायण का केवट अज्ञानता के कारण चरणों से डरकर चरण धो रहा है, और गोस्वामी जी का केवट अजान बनकर धोना चाहता है, अजान है नहीं। तभी तो कहता है आप नाथ हैं, चाहें तो लक्ष्मण से मेरा वध करा दें, और कृपालु हैं चाहें तो जरा सी रज देकर कृतार्थ कर दें। इन दो विशेषणों में बड़ी ही दीनता है, माधुर्य है प्रेम की आह है।

भावार्थ – १

यदि आप पैर नहीं धुलाना चाहते, तो नाव ही के लिये क्यों अड़ रहे हैं। आइये हम आपको सहज उपाय बतायें।

यहि घाट ते थोरिक दूरि अहै,
कटि लौं जल थाह दिखाइहौं जू।
परसे पग धूरि तरै तरनी,
घरनी घर क्यों समझाइहौं जू॥
तुलसी अवलम्बन और कछू,
लरका केहि भाँति जिआइहौं जू।
बरु मारिये मोहि, बिना पग धोये हौं
नाथ न नाव चढ़ाइहौं जू॥

घबराइये नहीं, रज भी बच जायगी, आसानी से पार भी उतर जायेंगे, न मुझे कोई अड़चन पड़ेगी, न आपको संकोच होगा। गर्मी के दिन हैं ही, यहाँ से थोड़ी दूर पर पैदल घाट है, जहाँ से लोग पैदल ही पार चले जाते हैं। जल भी वहाँ ज्यादा नहीं, कमर ही तक है। आप अकेले डर रहे हों तो चलिये थोड़ी दूर तक आपको थाह दिखाऊँगा, झगड़ा खत्म। फिर मैं यदि नाव पर आपको बिठा भी लूँ और मान लीजिये कि नाव

गायब भी हो जाय, तो मैं फिर भी सन्तोष कर लूँगा, मगर घर जाकर स्त्री को किस प्रकार समझाऊँगा, क्योंकि एक तो वह स्त्री – "साहस अनृत चपलता माया, भय अविवेक अशौच अदाया" की मूर्तिमयी पराकाष्ठा, दूसरे फिर केवट की स्त्री, अपशब्दों के सिवा जिसे बोलना भी नहीं मालूम, तीसरे मूर्खा, चौथे सत्संग में भी नहीं रही, भला उसको कौन समझायेगा? खैर यह भी जाने दीजिये वह न समझेगी तो डाँट दूँगा, लड़ लूँगा, या रो-पीट कर अपने आप चुप हो जायगी, लेकिन फिर सहारा भी कोई नहीं है। आखिर यह छोटे-छोटे बच्चे किस प्रकार जिन्दा बचेंगे। हाँ, यह जरूर है कि शायद मेरी गुस्ताखी पर आपको क्रोध आ रहा हो और आप इस नाफ़रमानी पर मुझे प्राण दण्ड की सजा भी देने का विचार कर रहे हों, तो शौक से मैं मरने को तैयार हूँ क्योंकि मैं अकेले ही तो मरूंगा परिवार तो बच जायगा। और वैसे नाव जाने से तो मैं और परिवार, दोनों ही मरेंगे। "अर्ध ब्रजहिं बुध सरबस जाता" मैं अपने प्राण दे दूँगा, मगर नाव पर आपको बिना पैर धोये चढ़ा नहीं सकता।

उपरोक्त छन्द में केवट सरकार को अपनी दैन्य दशा द्वारा पिघलाकर रज लेना चाहता है, परन्तु जब प्रभु ने कुछ न कहा तब फिर कहता है कि –

पात भरी सहरी सकल सुत बारे बारे,
केवट की जाति कछु वेद न पढ़ाइहौं।
सब परिवार मेरो याही लगि राजाजी–
हौं दीन वित्तहीन कैसे दूसरी बढ़ाइहौं॥
गौतम की घरनी ज्यों तरनी तरैगी मेरी,
प्रभु सों निषाद ह्वै कै बाद ना बढ़ाइहौं।
तुलसी के ईस राम रावरो सो साँची कहौं,
बिना पग धोये नाथ नाव ना चढ़ाइहौं॥

विचार तो करिये परिवार भी बड़ा है, फिर बच्चे भी छोटे–छोटे हैं। होशियार नहीं हुए हैं कि कोई दूसरा धन्धा करने लगें। फिर धन्धा भी क्या, यही केवटपने का काम कर सकते हैं, कोई वेद तो पढ़ ही नहीं सकते।

हे राजा! हम तुम्हारी प्रजा हैं, प्रजा-वत्सलता से काम लीजिए। मेरा सब खानदान इसी से लगा है, अथवा इसी के लिए है। गरीब इतना हूँ कि दूसरी बनवा नहीं सकता। आमदनी तो परिवार पोषण में खर्च हो जाती है, रुपये कहाँ से बचें जो दूसरी बनवा लूँ। आप कहेंगे कि "तू घबरा मत, हम वायदा करते हैं कि तेरी नाव नारी नहीं बनेगी", तो सरकार आप कह तो दोगे लेकिन मान लो कि बन ही गई तब? फिर क्या करूंगा? आखिर हूँ तो निषाद ही, आप से विवाद (तकरार, लड़ाई वगैरह) तो बढ़ा नहीं सकता। इसलिए हे राजा जी! आप से सत्य कहता हूँ कि बगैर पैर धोये नाव पर चढ़ा नहीं सकता। इस प्रसंग में केवट राजा और प्रजा का सम्बन्ध दिखला कर सरकार से प्रजा-वत्सलता के नाते रज चाहता है। फिर भी सरकार कुछ न बोले तब कहता है कि –

जिनको पुनीत बारि, शिरसि बहै पुरारि,
त्रिपथ गामिनी यश बेद कहैं गाइकै।
जिनको जोगीन्द्र मुनि वृन्द देव देहि दमि,
करत विविध योग जप मन लाइकै॥
तुलसी जिनकी धूरि परसि अहिल्या तरी,
गौतम सिधारें गृह गौनो सो लिवायकै।
तेइ पाँय पाइकै चढ़ाय नाव धोये बिनु,
ख्वै हौं ना पदावनी कै ह्वै हौं ना हँसाइकै॥

आखिर बहाना भी कहाँ तक करता। साफ ही कह दिया कि जिनका पवित्र जल शंकर के सिर से बह रहा है, जिस त्रिपथगामिनी का यश वेद गाकर कह रहा है, जिनका योगीन्द्र मुनि के समूह तथा समस्त देव देह का दमन करके योग (प्राप्ति साधन) तथा जप कर रहे हैं, जिनकी धूल स्पर्श करते ही अहिल्या तर गई, जिसे गौतम इस प्रकार ले गए जैसे कोई विवाहित वर अपनी नव वधू का गौना कराके ले जाता है (नवीनता और सौन्दर्य लावण्य से तात्पर्य है), वही चरण आज बिना धोये नाव पर चढ़ाकर अपनी मजदूरी (रज) खोकर, मल्लाहों में या लोक में हँसी का पात्र नहीं बनूँगा। अर्थात् सभी मुझ पर हँसेंगे कि तूने घर आई हुई

सम्पत्ति खो दी।

लीजिए! असली बात तो यह है जिससे आपके चरण धोना चाहता हूँ, नाव उड़ने का तो बहाना है। इस छन्द में स्पष्ट अभिप्राय सूचित कर चुका पुनः कहता है कि –

चरण यह जिनका शंकर से भी, योगी ध्यान करते हैं।
चरण यह जो कि ब्रह्मा को भी, गंगा दान करते हैं॥
चरण यह जिनका मधुमय रस, रसिक जन पान करते हैं।
चरण यह जो कि पतितों का भी, फिर उत्थान करते हैं॥
बढ़ा दें जब मुझे पहले, तो फिर आगे बढ़ेंगे यह।
चढ़ा दूँ मैं हृदय इन पर, तो नौका पर चढ़ेंगे यह॥
जो इन चरणों का धन्धा है वही धन्धा हमारा है।
न यह केवट से न्यारे हैं न केवट इनसे न्यारा है॥
हमारा और इनका तो परस्पर भाई चारा है।
इन्हें मेरा सहारा है मुझे इनका सहारा है॥
न कुछ झगड़ा न कुछ तक़रार, यह इकरार करता हूँ।
ये मुझको पार कर देवें, मैं इनको पार करता हूँ॥

भावार्थ – २

"बरु तीर मारहिं लखन" शायद जब निषाद ने इतनी ज़िद की, और यह भद्दी सौगन्ध की कि "तुम्हारी कसम, तुम्हारे बाप की कसम" तभी श्री लखनलाल जी की भौंहें टेढ़ी हो गईं और केवट ने जब लखनलाल जी का यह रंग देखा, तो कह बैठा कि "बरु तीर मारहु", क्योंकि श्री लक्ष्मण जी जहाँ किंचित मात्र भी श्री राघव की मर्यादा में व्यतिक्रम देखते हैं, वहाँ बगैर कुछ सोचे विचारे ही रोष में भर जाते हैं, यह उनका स्वाभाविक लक्षण है। यथा कुछ उदाहरण –

विश्वामित्र जी ने कहा –

सीय स्वयंबरु देखिअ जाई।

ईसु काहि धौं देहि बड़ाई॥

"ईश काहिधौं" पर लक्ष्मण जी ने कहा –

लखन कहा जस भाजनु सोई।
नाथ कृपा तव जा पर होई॥

जनकजी ने कहा –

अब जनि कोउ माखै भट मानी।
बीर बिहीन मही मैं जानी॥

तत्काल –

माखे लखनु कुटिल भइँ भौंहें।
रद पुट फरकत नयन रिसौंहे॥

धनुर्भङ्ग पर –

लेहु छड़ाइ सीय कह कोऊ।
धरि बाँधहु नृप बालक दोऊ॥

इसी स्थल पर –

भूप बचन सुनि इत उत तकहीं।
लखनु राम डर बोलि न सकहीं॥

परशुराम –

सुनहु राम जेहिं सिवधनु तोरा।
सहसबाहु सम सो रिपु मोरा॥
सो बिलगाउ बिहाइ समाजा।
न त मारे जैहहिं सब राजा॥

यह सुनते ही –

सुनि मुनि बचन लखन मुसुकाने।
बोले परसुधरहि अपमाने॥

भरत मिलाप –

लखन लखेउ प्रभु हृदयँ खभारू।
कहत समय सम नीति बिचारू॥

एतना कहत नीति रस भूला।
रन रस बिटपु पुलक मिस फूला॥

जिमि करि निकर दलइ मृगराजू।
लेइ लपेटि लवा जिमि बाजू॥
तैसेहिं भरतहि सेन समेता।
सानुज निदरि निपातउँ खेता॥
जो सहाय कर संकरु आई।
तो मारउँ रन राम दोहाई॥

किष्किंधा –

सुग्रीवहुँ सुधि मोरि बिसारी।
पावा राज कोस पुर नारी॥

तत्काल –

लछिमन क्रोधवन्त प्रभु जाना।
धनुष चढ़ाइ गहे कर बाना॥

सुन्दर में –

प्रभु तुम्हार कुलगुर जलधि, कहिहि उपाय बिचारि।
बिनु प्रयास सागर तरिहि, सकल भालु कपि धारि॥

सखा कही तुम नीक उपाई।
करिय दैव जो होइ सहाई॥

श्री राघव की मर्यादा इसमें कम होती है। अत: –

मन्त्र न यह लछिमन मन भावा।
राम बचन सुनि अति दुख पावा॥
नाथ दैव कर कवन भरोसा।
सोषिअ सिन्धु करिअ मन रोसा॥

केवट परीक्षा में पास हो गया, श्री लखनलाल जी के क्रोध में प्राणों की बलि दे देगा, परन्तु चरणोदक लिये बिना नाव पर चढ़ायेगा नहीं; दृढ़ता का आदर्श उदाहरण है। केवट कहता है –

इशारा आपके भाई का होता है आपके वाणों से।
कि धन्वा से निकल कर जा मिलों केवट के प्राणों से॥
मगर इनकी नहीं चिन्ता मैं खुद तइयार बैठा हूँ।
कि इन चरणों पै अपना तुच्छ जीवन हार बैठा हूँ॥
ये माना एक दिन मरना है, कल या आज मरना है।
मगर यह आज का मरना नहीं, मरना है तरना है॥
कहाँ तक़दीर ऐसी है जो पाँसा ठीक पड़ जाये।
कि दर्शन आपका करके पखेरू प्राण उड़ जाये॥
किया करते हैं योगी योग साधन किस लिये हरदम।
तपस्वी फूंकते रहते हैं तन मन किस लिये हरदम॥
विरागी लोग भी किस लाभ से बन-बन भटकते हैं।
महा त्यागी भी किस आशा की सीमा पर अटकते हैं॥
यही है चाहना उनकी कि निकलें प्राण जब तन से।
तो आँखें तृप्त हो जायें तुम्हारे दिव्य दर्शन से॥
तो क्यों फिर हाथ से ऐसा समय श्रीमान जाने दूँ।
न क्यों श्री जानकी जीवन के सन्मुख जान जाने दूँ॥
मरूँगा जिसके हाथों से, जो श्रीरघुवर का प्यारा है।

मरूँगा किस जगह, निर्मल यहाँ गंगा की धारा है॥
मरूँगा सामने किसके कि जिनका दास होता हूँ।
मरूँगा किस खता पर पाँव करुणाकर के धोता हूँ॥
करो मत देर! छोड़ो बाण! मैं बलिहार हो जाऊँ।
तुम्हारे पार होने से प्रथम ही पार हो जाऊँ॥

भावार्थ – ३

"तब लगि न तुलसीदास नाथ कृपालु" काशीस्थ श्री वन्दन पाठक जी का मत है कि "तुलसी" श्री किशोरी जी, "दास" श्री लक्ष्मण जी, तथा "नाथ कृपालु" श्री राघव जी, तीनों में से किसी को भी तब तक पार न उतारूँगा, जब तक चरण न पखारलूँ।

पुनः "तुलसी" शब्द में भी यही अभिप्राय है। यथा – "तु" तुरीय श्री राघव (तुरीया जानकी चै, तुरीयो रघुनन्दनः), "ल" लक्ष्मण, "सी" श्री सीता जी।

भावार्थ – ४

तुलसीदास प्रायः ऐसे स्थानों में अवश्य आते हैं जहाँ –

१. – श्री भगवद्विषयक दान बँटता हो
२. – श्री भगवत् सेवा में
३. – भगवत् के गूढ़ रहस्य (अंतः पुर प्रसंग में)
४. – भगवत् प्रार्थना में
५. – भगवत्भक्ति के उपदेश में

भावार्थ – ५

"पार (तौ) उतारिहौं" अर्थात् पार तो उतार ही दूँगा चाहे आप चरण धुलायें या न धुलायें। परन्तु "जब लगि" आप पाँव धुला न लें, तब तक तुलसीदास भी इस बात के गवाह हैं कि "न नाथ कृपाल" आप कृपाल नहीं कहे जा सकते हैं। यह अर्थ अन्वय पूरक है।

सुनि केवट के बैन

सुनि केवट के बैन, प्रेम लपेटे अटपटे।
बिहसे करुनाऐन चितइ जानकी लखन तन॥

निषाद वाक्य माकर्ण्य, सम्बाद्ध प्रेम पूरितम्।
लक्ष्मणं वीक्ष्य सीतांच, जहास करुणाकरः॥

(अगस्त्य रामायण)

प्रेम पूरति निषाद वाक्य सुनकर, लक्ष्मण और श्री सीता जी को देखकर करुणाकर हँसे।

विशेषता

संस्कृत में केवल "प्रेम पूरितम्" है, अपितु गोस्वामी जी ने "अट पटे" विशेषण अधिक रक्खा है। तात्पर्य यह कि प्रेम पूरित नहीं, प्रेम से भरे नहीं, प्रेम लपेटे हैं, प्रेम वेष्ठितम् हैं। अर्थात् भाव तो कठोर है परन्तु प्रेम से लपेटा है। प्रेम पूरति वचन तो कठोर होते ही नहीं, उनके कठोर होने का तो प्राकृतिक नियम ही नहीं है। अटपटे वचन आपको प्यारे भी बहुत हैं और अटपटे वचनों को मस्त प्रेमी इस्तेमाल भी ज्यादा करते हैं। कारण यह है कि प्रार्थना तो सुनते-सुनते आप थक गये हैं, अतः अटपटे वचनों को सुनने के लिये ही तो मनुष्य रूप धारण करते हैं।

भावार्थ – १

केवट के बैन –

चरन कमल रज कहुँ सब कहई।
मानुष करनि मूरि कछु अहई॥
छुअत सिला भइ नारि सुहाई।

प्रेम लपेटे बैन –

जौं प्रभु पार अवसि गा चहहू।
मोहि पद पदुम पखारन कहहू॥

पद कमल धोइ चढ़ाइ नाव न नाथ उतराई चहौं।
मोहि राम राउरि आन दसरथ सपथ सब साची कहौं॥
बरु तीर मारहुँ लखनु पै जब लगि न पाय पखारिहौं।
तब लगि न तुलसीदास नाथ कृपाल पारु उतारिहौं॥

अटपटे बैन –

छुअत सिला भइ नारि सुहाई।
पाहन तें न काठ कठिनाई॥
तरनिउ मुनि घरिनी होइ जाई।
बाट परई मोरि नाव उड़ाई॥
एहिं प्रतिपालउँ सबु परिवारू।
नहिं जानउँ कछु अउर कबारू॥

बरु तीर मारहुँ लखनु पै जब लगि न पाय पखारिहौं।
तब लगि न तुलसीदास नाथ कृपाल पारु उतारिहौं॥

क्रम से – पहले वाणी, फिर उसमें प्रेम, फिर उसका बाहरी दिखाव है। इसी चातुर्य पर "बिहँसे करुणा ऐन"।

भावार्थ – २

लक्ष्मण जी को क्रोध हो गया था। क्रोध में हृदय जलने लगता है और सरकार की हँसी कैसी है?

कर कमलनि धनु सायक फेरत।
जिय की जरनि हरत हँसि हेरत॥

अतः श्री लखनलाल जी की क्रोध **जरनि** को हरण करने के लिये "बिहँसे"।

भावार्थ – ३

श्री लक्ष्मण और श्री जानकी जी की ओर देखकर हँसने का भाव यह कि यद्यपि इन चरणों पर आप दोनों का जन्म सिद्ध अधिकार है, परन्तु यह तो चरण नहीं बल्कि चरण रज के लिये प्राण बलिदान कर रहा है। कहो, क्या ऐसा भी प्रेमी कोई है।

भावार्थ – ४

श्री जानकी जी से हँसकर पूछते हैं कि चरणों की रज वस्तु तुम्हारी है, और लक्ष्मण जी से कहा कि तुम इसके रक्षक हो, दोनों बताओ कि इसे रज दें या न दें?

भावार्थ – ५

श्री जानकी जी से कह रहे हैं कि जिन चरणों को तुम ने "गौतम तिय गति सुरति करि, नहिं परसत पग पानि" छुवा भी नहीं था, उसी गौतम तीय की सुरति करके यह चरण-भक्त प्राण बलिदान कर रहा है और श्री लक्ष्मण जी से कहा कि तुम ने वन गमन समय कहा था कि –

मन क्रम बचन चरन रति होई।
कृपा सिन्धु परि हरिअ कि सोई॥

परन्तु यह तो "मन क्रम बचन निछावर जोई" कहो, तुमसे अधिक है या नहीं।

भावार्थ – ६

श्री जानकी जी की तरफ देखकर हँसे कि तुम्हारे पिता ने तुम्हें देकर यह चरण धोये थे, यह मुफ्त ही धो रहा है।

भावार्थ – ७

केवट के "प्रेम लपेटे बैन सुनि चितै जानकी तन", अर्थात् देखो यह कैसा प्रेमी है कि तुम्हारी वस्तु पर तुम्हारे ही सामने डाका डाल रहा

है और केवट के अटपटे "बैन सुनि चितै लखन तन" अर्थात् बड़े-बड़े अटपटों (परशुराम तक) से तुम लड़ने को तैयार हो गये, परन्तु यह प्रेमी अटपटा तुमसे भी अटपटा निकला। बाण हाथ में ही रह गया, कहो क्या इसके वध का साहस पड़ता है?

भावार्थ – ८

सुनि केवट के बैन – जान (प्राण) की तन (तरफ) चितै देख।
केवट के प्रेम लपेटे बैन – लखन (लक्षण) तन चितै जाने।
केवट के अटपटे बैन – तन (शरीर) टेढ़ी आकृति से जाने।

भावार्थ – ९

इधर – श्री राम, श्री जानकी, श्री लक्ष्मण।
उधर – प्रेम, वाणी, अटपटापन।

यह साम्य देखकर "बिहँसे"।

भावार्थ – १०

केवट बैन करुणा ऐन सुनि बिहँसे।

करुणा ऐन सुनकर हँसे

केवट के प्रेम लपेटे बैन जानकी सुनि चितै।

श्री जानकी जी सुनकर आश्चर्य से देखने लगीं कि इतना गूढ़ चरण भक्त है

केवट के बैन लखन सुनि तन।

श्री लक्ष्मण जी सुनकर तन गये, नाराज हो गये

भावार्थ – ११

केवट ने तीन प्रकार के वचन कहे, जो जैसा था उसे वैसा ही

वचन कहा। मुझे सरल, श्री जानकी जी के लिये सप्रेम, और श्री लक्ष्मण जी के लिये अटपटे, मगर मुखातिब मेरी ही ओर रहा। इसी चतुरता पर हँसी आ गई।

भावार्थ – १२

सुनि केवट के बैन (जब) बिहँसे करुणा ऐन (तब) चितै जानकी लखन तन – श्री जानकी जी सरकार के हँसते ही लक्ष्मण की तरफ देखने लगीं। मानो कह रही हैं कि करुणा ऐन हँस पड़े हैं, अब रज देना ही चाहते हैं।

भावार्थ – १३

करुणा ऐन का तात्पर्य कि बाह्य शब्दों की कठोरता पर ध्यान न देकर आन्तरिक भाव हँसे।

कहत नसाइ होय नित नीकी।
रीझत राम जानि जन जीकी॥

भावार्थ – १४

सर्वस दै धोये जिन्हें, बलि, विधि और विदेह।
सर्बस लै धोवत तिन्हें, अब केवट निज गेह॥

इसलिए हँसे।

भावार्थ – १५

रावरे दोष न पाँयन को,
पगधूरि को भूरि प्रभाव महा है।
पाहन ते बन वाहन काठ को,
कोमल है जल खाइ रहा है॥
पावन पाय पखारिकै नाव,

चढ़ाइहौ आयसु होत कहा है।
तुलसी सुनि केवट के बर बैन,
हँसे प्रभु जानकी ओर हहा है॥

"सरकार आपके पैरों का इसमें कोई दोष नहीं है, असर तो सबसे बड़ा पैरों की धूल का है। भला वह तो पत्थर की सख्त शिला थी जो तर गई, यह तो भला काठ की नौका है। स्वभाव से ही मुलायम है, फिर जल की सवारी है इसलिये तर है। फिर नई भी नहीं, बहुत दिनों से जल में भीग रही है। फिर भला इसके उद्धार में क्या देरी होगी, पवित्र चरण धोकर नाव पर चढ़ाऊँगा, बोलिए क्या आज्ञा होती है?" ऐसे श्रेष्ठ बचन केवट के सुनकर प्रभु श्री जानकी जी की तरफ देखकर हः हः करके हँस पड़े। श्री जानकी जी आह्लादिनी शक्ति हैं, इससे उनकी ही ओर प्रथम देखकर हँसे।

भावार्थ – १६

श्री महारानी जी प्रकृति स्वरूपा शुद्ध माया हैं। यथा – "उभय मध्य सिय सोहत कैसी, ब्रह्म जीव बिच माया जैसी।" सरकार शुद्ध माया की ओर देखकर, फिर लक्ष्मण जी को लक्ष्य कराकर, यह हँसे कि हे महामाये! तुम्हारी शक्ति से मैं लक्ष्मण जैसे जीवाचार्यों को भी संकट में डाल देता हूँ। यथा –

लछिमनहूँ यह मरमु न जाना।
जो कछु चरित रचा भगवाना॥

परन्तु आज तुम्हारे सामने ही, साथ रहते हुए भी, इस केवट के चक्कर में ऐसा फँस गया हूँ कि अब निकलते ही नहीं बनता।

कृपा सिन्धु बोले मुसुकाई

कृपा सिन्धु बोले मुसुकाई।
सोइ करु जेहि तव नाव न जाई॥

इति तद्वाक्य माकर्ण्य, बिहस्य रघुनन्दनः।
तेन संक्षालितः पादौ नौकां तामारुरोह सः॥

ऐसे वाक्य सुनकर श्री रामचन्द्र जी हँस कर, उससे चरण धुलाकर, उस नाव पर सवार हुये।

केवट की हठ थी कि आज तक सभी भक्तों ने माँग कर आपसे श्रीचरण रज प्राप्त की है, परन्तु मैं आपसे माँगना ही नहीं चाहता। जब आप ही अपने मुख से कह देंगे तभी चरण रज लूंगा। इधर श्री राघव जी इस विचार में थे कि केवट अपने आप ही रज धो ले क्योंकि यह तो भक्तों के अधिकार की वस्तु है ही, मैं आज्ञा नहीं दूंगा। अन्त में जब केवट बिना चरण धोये जाने ही नहीं देता और मरने को तैयार है, अब आपको अपनी हार पर हँसी आ गई, और विवश होकर "बोले मुसकाई सोइ करु, जेहि तव नाव न जाई।" यह भाव गोस्वामी जी ही व्यक्त कर रहे हैं, संस्कृत से व्यक्त नहीं होता। यही श्री मानस में विशेषता है।

भावार्थ – १

वाह रे केवट! श्री राघव लाख-लाख सम्हले हुये थे कि मैं कुछ न कहूँगा, मगर कहलवा ही तो लिया।

भावार्थ – २

पहले लिखा "बिहँसे करुणा ऐन", अब फिर कहा "मुसकाई" यह पुनरुक्ति क्यों? पहले श्री जानकी लखन तन चितै बिहँसे, और अब केवट की ओर, बोले मुसकाई।

भावार्थ – ३

श्री जानकी जी से हँसकर इशारा दिया कि तुम्हारी सम्पत्ति छीन रहा है, फिर लक्ष्मण जी को हँस कर समझाया कि तुम्हारी सेवा छीन रहा है। जब दोनों ही न बोले, तो "मौन स्वीकृति लक्षणम्" के अनुसार समझ कर आपने भी हँस कर केवट को आज्ञा दी कि "सोइ करु।"

भावार्थ – ४

"कृपा सिन्धु" – नदियाँ नाले टेढ़े-मेढ़े आड़े-तिरछे रास्ते होकर भी समुद्र में पड़ते हैं, परन्तु समुद्र उन्हें शान्त और समभाव से ही लेकर अपनी तरंग में मिला लेता है। उसी प्रकार केवट के आड़े-तिरछे अटपटे वचनों को सुनकर भी, आपने कृपा भाव से उन्हें ग्रहण करके अपनी मधुर मुसकान में मिला लिया। इस कारण "कृपा सिन्धु।"

भावार्थ – ५

"कृपा सिन्धु" सरकार ने विचारा कि मामूली नदियों की बाढ़ में भी नावें अक्सर बह जाया करती हैं, फिर भला समुद्र में नौका तरङ्गों से उड़ जाय तो आश्चर्य ही क्या है? इसलिये केवट यदि नौका बचाने का उपाय कर रहा है, तो ठीक ही तो है। अतः समुद्र ने स्वयं ही आज्ञा दे दी कि "सोइ करु जेहि तव नाव न जाई।"

भावार्थ – ६

सोइ करु जेहि तव नाव न जाई।

क्योंकि तेरी नाव ही ने तो तुझे यह चरण प्राप्त कराये हैं। न यह नाव होती, न तुझे यह चरण धोने को मिलते। उपदेश है कि जिसके द्वारा प्रभु प्राप्ति हो, उसे कभी न जाने दें।

एक महात्मा नियम से सन्तों की सीथ प्रसादी नित्य पाया करते थे। उनकी इस श्रद्धा पर प्रसन्न होकर भगवान् उनके दरवाजे पर गये, महात्मा से लोगों ने जाकर कहा कि "द्वार पर भगवान आये हैं।" महात्मा

उस समय सीथ प्रसादी के पत्तल उठा रहे थे। लोगों से उन्होंने कहा कि "भगवान को दरवाजे पर बिठालो, मैं प्रसादी लेकर शीघ्र आता हूँ।" लोगों ने कहा "यह आप क्या करते हैं? पहले भगवान का सत्कार करिये, फिर सीथ प्रसादी ले लेना।" महात्मा बोले "भाई एक दिन के सत्कार से क्या लाभ? मैं तो यह प्रयत्न कर रहा हूँ कि भगवान आ गये हैं, तो अब यहाँ से जायें ही नहीं। अर्थात सीथ प्रसादी निष्ठा से ही तो भगवान आये हैं। यदि भगवान के लालच में सीथ प्रसादी की निष्ठा कम हो गई, तब तो भगवान चले भी जायेंगे। और यदि निष्ठा न घटी, तो भगवान भी नहीं जा सकते।" इस पर प्रसन्न होकर भगवान ने उन्हें नित्य दर्शन देने का वर दिया। अतः "सोइ करु जेहि तव नाव न जाई।"

भावार्थ – ७

कहावत है कि "ऐसा न करूँ तो मेरा नाम नहीं।" केवट भी यही कह रहा था कि "आज चरण न धो लूँ तो मेरा नाँव नहीं।" नाँव पूर्वी भाषा में नाम का अपभ्रंश है। अतः सरकार ने कहा भाई वही कर जिसमें "तव नाँव न जाई", तेरा नाँव न जाय? मैं हारा और तू जीता। यथा –

जो हैं अहले करम, शर्मिन्दा होते हैं वो सायल से।
झुकता है दरे सागर पै शीशा अपनी गर्दन को॥

बेगि आनु जल पाय पखारू

बेगि आनु जल पाय पखारू।
होत बिलंबु उतारहि पारू॥

भावार्थ – १

"होत बिलंबु" – अभी तक केवट को जल्दी थी पैर धोने की, अब सरकार को जल्दी है पैर धुलाने की, बाहरी प्रेम हठ।

भावार्थ – २

"बेगि आनु जल" – जल्दी पाँव धोले, कहीं ऐसा न हो कि तुझे धोते देखकर यह गाँव वाले सभी धोने लगें, तो फिर बड़ी अड़चन होगी इसलिये "बेगि आनु जल"

भावार्थ – ३

"होत बिलंबु" – दृढ़ता श्रद्धा तो तभी है कि भगवान स्वयं भक्त की खुशामद करने लगें। चैत की धूप है, पैदल चलने का आज पहला ही मौका है। हम को और लक्ष्मण को तो अभ्यास भी है, किन्तु किशोरी जी कभी पैदल नहीं चलीं। यथा –

पुर तें निकसी रघुबीर-बधू,
धरि धीर दये मग में डग द्वै।
झलकीं भरि भाल कनी जल की,
पुट सूखि गये अधराधर वै॥
फिरि बूझति हैं चलनो अब केतिक,
पर्ण-कुटी करिहौ कित ह्वै?।
तिय की लखि आतुरता पिय की,
अखियाँ अति चारु चलीं जल च्वै॥

"श्री रघुवीर बधू" यद्यपि चलीं कभी नहीं, सुकुमारी अधिक हैं। परन्तु "रघुवीर बधू हूँ" ऐसा विचार करके वीरता वेश में नगर से निकलीं, और बड़ा धैर्य धारण करके मार्ग में दो पैर ही दिये थे कि मस्तक पर श्रम जल की कणी झलक आई, अधरा धर के दोनों पट सूख गये, फिर पूछती भी क्या हैं, कि "हे प्राण प्रिय! अब और कितना चलना है? पर्ण कुटी कहाँ होकर बनाओगे?" श्री किशोरी जी की इस शीघ्रता की घबराहट को देखकर श्री रघुनन्दन जी की आखों से जल बिन्दु गिरने लगे, अश्रु बहने लगे।

सद्यः पुरी परि सरेषु शिरीष मृद्वी,

गत्वा जवात्रि चतुराणि पदानि सीता।
गन्तव्यमस्ति किय दित्य सकृद् ब्रुवाणा,
रामाश्रुणा कृत वती प्रथमावतारम् ॥

(हनुमन्नाटक)

सिरस फूल के समान कोमल अंग वाली श्री सीता, अयोध्या पुरी के समीप की भूमि में शीघ्रता से तीन-चार पग चल कर ही, इस प्रकार बराबर कह कर कि "हे नाथ कितना मार्ग और चलना है?", श्री रामचन्द्र जी के आँसुओं का प्रथम अवतार कराती हैं। इसी से (किशोरी जी को धूप में चलने से महान कष्ट होगा, यह विचार करके) कह रहे हैं कि "होत बिलम्ब उतारहि पारू।"

भावार्थ – ४

सुमन्त पास ही हैं, कहीं आ न जाँय, इसलिये "उतारहि पारू।" कहीं कोई सुमन्त की दशा देख कर यहाँ समाचार न पहुँचा दे, तो लौकिक मर्यादा वश रुक जाना पड़ेगा, इसलिये "होत विलम्ब उतारहि पारू।"

भावार्थ – ५

यदि किराया न दिया गया हो और ताँगे वाले से कहा जाय कि जल्दी पहुँचा दे, तो मुहावरा कहने का है कि "कौन से पहले दाम जमा कर दिये हैं।" मगर जब किराया लेकर ताँगे वाला सुस्त चलता है, तो यह कहा जाता है कि "किराया तो बड़ी जल्दी जमा करा लिया, अब पहुँचाने में इतनी सुस्ती क्यों कर रहा है।" एतत् भावेन – श्री चरण रज मजदूरी पेशगी दी जा रही हैं, अतः जल्दी पार उतार दे।

भावार्थ – ६

"उतारहि पारू?" प्रश्नात्मक है।

बेगि आनु जल (जल शीघ्र ले आ) क्योंकि होत बिलम्व (बड़ी देर

हो रही है) पाँय पखारू (पाँव धोले और क्या चाहता है?), परन्तु फिर तो उतारहि पारू (फिर तो पार उतार देगा न, फिर भी कोई झगड़ा है!)

जासु नाम सुमिरत इक बारा।
उतरहिं नर भव सिंधु अपारा॥

यन्नाम स्मृति मात्र तोऽपरिमितं, संसार वारां निधिम्।
तीर्त्वा गच्छति दुर्जनोपि, परम विष्णोंः पदं शाश्वतम्॥

जिनके नाम स्मरण मात्र से पापी भी अपार संसार पारावार से तर कर अविनाशी विष्णु के परम पद को प्राप्त होता है।

श्लोक का यह तात्पर्य है कि जिनके नाम का जप न भी हो, यदि स्मरण भी हो जाय, तो मनुष्य संसार सागर से पार हो जाता है। परन्तु स्मरण कब तक हो यह स्पष्ट नहीं। गोस्वामी जी ने स्पष्ट कहा कि "इक बारा", यदि एक बार भी स्मरण हो जाय, तो भी "नर भव सिन्धु अपारा उतरहिं।"

एक बात और भी विचारणीय है। संस्कृत में "दुर्जनः अपि शाश्वतम् विष्णोः परम् पदम् गच्छति", विष्णु के परम पद को जाता है। यहाँ ईश्वर का एक देशीय नाम रूप और धाम व्यवस्थित है, परन्तु गोस्वामी जी कहते हैं, "जासु नाम" सार्वदैशिक है, "उतरहिं नर भव सिन्धु अपारा।" फिर उतर कर कहाँ जाते हैं? सो नहीं कहा, कारण अपनी-अपनी उपासनानुसार ही प्राणी उस स्थान को प्राप्त करेगा।

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्॥

जो जो भक्त जिस जिस तनु को श्रद्धा से पूजना चाहता है, उसकी उस अचल श्रद्धा को मैं ही स्थिर करता हूँ। इस सिद्धान्त के अनुसार गोस्वामी जी ने "उतरहि भव सिन्धु अपारा" ही कह कर छोड़ दिया। आगे अपने उपास्य देव के अनुसार धाम को प्राप्त होगा।

यदि कहो कि संस्कृत में ही ऐसा क्यों लिखा? इसका समाधान यह है कि अध्यात्म रामायण में श्री शंकर जी कथाकार हैं और श्री शंकर जी परम वैष्णव हैं – "वैष्णवानां यथा शम्भुः।" इसलिये शंकर जी को ही यही लिखने में शोभा है कि "विष्णोः परमं पदं गच्छति।"

जिसका नाम लेकर नर भव सिन्धु पार हो जाता है, उसे नाव की क्या आवश्यकता?

उत्तर – सेतु सब को पार उतारता है, परन्तु स्वयं नदी के मध्य में रहता है। यदि उसे पार जाना हो, तो अपना सर्वांग (लोहा, काष्ठ, कील, काँटा इत्यादि) नाव पर ही रख कर पार होना होगा, यही यहाँ भी विचार लें।

सोइ कृपालु केवटहि निहोरा

सोइ कृपालु केवटहि निहोरा।
जेहि जगु किय तिहु पगहु ते थोरा॥

सोऽयं श्री रघुनायकस्तु कृतवान, सुप्रार्थना धीवरात्।
श्री गंगोत्तरणार्थ मेव दयया, तं त्वं कृपालु भज॥

उन्हीं श्री रघुनायक जी ने दया से ही, गंगा पार होने के लिये केवट से भली प्रकार प्रार्थना की। उन कृपालु को तुम भजो।

(अध्या० रा०)

भावार्थ – १

"जेहि जगु किय तिहु पगहु ते थोरा।" – तो फिर गंगा को थोड़ा करके क्यों न लाँघ गये?

उत्तर – जग को थोड़ा कर सकते हैं, कारण कि जग इन का पुत्र है ये जगत् पिता हैं। परन्तु गंगा को थोड़ा नहीं कर सकते (यद्यपि गंगा

भी इनसे प्रगट हैं, तो पुत्री ही हैं) परन्तु कारण यह है कि इस समय गंगा श्री शंकर जी के शीश पर हैं। यदि गंगा को थोड़ी करके लाँघ जाते, तो श्री शंकर जी के शीश उल्लंघन का अपराध होता, और इस अवतार में आपने श्री शंकर जी को अपना स्वामी माना है। इसलिये गंगा को थोड़ी न कर सके।

यदि कहो कि नाव पर बैठे तो सर पर चढ़ने का दोष न हुआ? तो उसका समाधान यह है कि उल्लंघन करके जाना अपमान है और वैसे तो बालक हमेशा शीश पर चढ़ा ही करते हैं, फिर श्री शंकर का ध्यान भी तो "बालक रूप राम कर ध्याना" है। अतः दोष नहीं।

एक मकान में श्री शंकर जी का चित्र नीचे टंगा था और श्री श्यामसुन्दर का ऊपर टंगा था। मैंने एक परम शिव भक्त से कहा कि देखो श्री श्यामसुन्दर बड़े हैं, जभी तो शंकर के शीश पर बैठे हैं। उस भक्त ने उत्तर दिया कि छोटे बच्चे हमेशा सर पर ही बैठा करते हैं। धन्य! धन्य! उस भक्त को हमारा प्रणाम।

भावार्थ – २

उपरोक्त दो चौपाइयों में "जासु नाम" से नाम और "तिहुँ पगहुँ ते थोरा" से रूप – दो की महिमा कही, लीला और धाम न कहा। कारण कि लीला इस समय निषाद कर रहा है। धाम श्री अवध के अतिरिक्त अभी दूसरा कहीं हुआ नहीं।

भावार्थ – ३

"सोइ कृपालु" – वे ही कृपालु जिन्होंने बलि के ऊपर कृपा की थी? बलि का तो राज्य हरण किया था।

नहीं – वहाँ बलि का राज्य लेकर वह चरण रज दी और यहाँ केवल नौका ही लेकर दे रहे हैं।

पद नख निरखि देवसरि हरषी

पद नख निरखि देवसरि हरषी।
सुनि प्रभु बचन मोहँ मति करषी॥

वीक्ष्य पाद नखान् गंगा, हृष्टा कर्ण्य विभोर्बचः।

श्री चरण नख देखकर और विभु के वचन सुनकर गंगा जी प्रसन्न हुई।

भावार्थ – १

"मोह मति करषी" – मोह ने मति आकर्षित कर ली। मोह यह कि साक्षात् भगवान् नाव के लिये निहोरा कर रहे हैं। मोह बड़ा ही प्रबल है।

अहो मोह महिमा बलवाना।

अथवा –

नारद भव विरंचि सनकादी।
जे मुनि नायक आतम वादी॥
मोह न अंध कीन्ह केहि केही।
को जग काम नचाव न जेही॥

भावार्थ – २

महाराज ने हँस कर केवट से कहा था –

कृपा सिन्धु बोले मुसकाई।

और सरकार के हँसने में है माया – "हास्योन्माद जनेन कही च माया।"

माया हास बाहु दिगपाला।

अतः मुसकाते ही माया प्रगटी और प्रकटते ही गंगा को लग गई। क्योंकि इन्हें पवित्रता का गौरव प्राप्त हो चुका है, इस कारण गौरव प्राप्त हुये पर ही माया का प्रभाव चलता भी है। फिर यह माया वश हुई, तो आश्चर्य ही क्या है? क्योंकि –

शिव चतुरानन जाहि डेराहीं।
अपर जीव केहि लेखे माहीं॥

भावार्थ – ३

"पद नख निरखि हरषी" कि शायद अब मैं फिर इन चरणों में स्थिर हो सकूंगी। "सुनि प्रभु वचन" कि "होत विलम्ब उतारहि पारू" "मोह मति करषी", मूर्छा को प्राप्त हो गई कि इतने दिनों के बाद जन्म दाता मिलकर भी बिछुड़े जाते हैं। "मोहो मूर्छा विसर्ययोः" कन्याओं को खास कर पिता-माता का वियोग और बड़ा भारी मोह होता है।

भावार्थ – ४

"पदनख निरखि हरषी" परन्तु शङ्का थी कि कहीं बिना चरण धुलाये ही न पार उतर जाँय? किन्तु "सुनि प्रभु वचन" कि "बेगि आनु जल पाँय पखारू" वह जो शङ्कात्मक "मोह मति" थी वह "करषी" खिंच गई। या उस मोह को मति ने ही खींच लिया।

भावार्थ – ५

"पद नख निरखि" कै यह ध्यान हुआ कि अब संयोग होगा, परन्तु "सुनि प्रभु वचन" कि "बेगि आनु जल" अर्थात् वहीं किनारे पर ही जल मँगा रहे हैं। और "उतारहि पारू" नाव पर बैठ कर पार चले जाना चाहते हैं, यहाँ मोह हुआ कि "तजे चरण अजहूँ न मिटत नित बहिबो ताहु केरो।"

भावार्थ – ६

विधि के कमण्डल से प्रगट हुई थी फिर –
गंगा नाम पाया था प्रभाव के बढ़ौते में।
विष्णु की कुमारी बनीं देवों की दुलारी बनीं –
शंकर की नारी बनीं चाह के चढ़ौते में॥
किन्तु अब "बिन्दु" मात्र भी न मान होगा मेरा,
सुखद सुहाग जा रहा है समझौते में।
क्योंकि मुझसी ही एक दूसरी सवति मेरी,
जन्म ले रही है आज केवट कठौते में॥

केवट राम रजायसु पावा

केवट राम रजायसु पावा।
पानि कठवता भरि लेइ आवा॥

भावार्थ – १

"राम रजायसु पावा" केवट जीत गया, आज तक भगवान ने किसी को भी अपने चरण धोने की आज्ञा न दी। आज भगवान को पहला मौका ही है, यह कहने का कि "बेगि आनु जल पाँय पखारू।" बस यही केवट चाहता था कि सरकार हमेशा भक्तों की इच्छा और आग्रह से चरण धुलवाते हैं, आज अपनी इच्छा और प्रसन्नता से धुलवाएँ, वही हुआ।

भावार्थ – २

"बिहँसे करुणा ऐन" हँसने में ही पहले आज्ञा दे दी। मगर केवट जल न लाया – "कृपासिन्धु बोले मुसकाई, सोई करु जेहि तव नाव न जाई" – फिर भी केवट नहीं जल लाया, क्योंकि अभी तक स्पष्ट भगवान ने आज्ञा नहीं दी। तब कहा कि "बेगि आनु जल पाँय पखारू।" अहा!

विवशता की हद हो चुकी, तब "केवट राम रजायसु पावा पानि कठौता भरि लै आवा।"

भावार्थ – ३

"केवट राम रज आयसु पावा" अर्थात् श्री चरणों से रज कण भी (इशारा दे रहे हैं) आज्ञा दे रहे हैं, अब देर क्यों करता है शीघ्र धोता क्यों नहीं?

भावार्थ – ४

"पानि कठौता भरि लै आवा" सरकार तो जल कह रहे हैं, परन्तु केवट गंगा जल को पानी ही समझता है। अक्सर तीर्थ वासी तीर्थ की महिमा नहीं विचारते हैं। गंगा तीर और यमुना तीर वासी उसे पानी ही समझा करते हैं।

भावार्थ – ५

श्री गंगाजल तो सरकार का चरणोदक है ही। अतः चरणोदक से चरण कैसे धोवे? इसलिए किसी गंगा तीर कूप का पानी ही कठौते में भरकर ले आया है (यह भी कुछ भावुकों का मत है)

भावार्थ – ६

कठौता इसलिए लाया कि पात्र माँज डाले जाते हैं, परन्तु कठौता माँजा नहीं जाता। दूसरे पात्र जूठा भी कर लिया जाता है, परन्तु कठौते में भोजन नहीं किया जाता, अर्थात् वह जूठा नहीं होता। इसलिए सरकार का चरणोदक जिसमें धुले, वह पात्र न मांजा जाय और न जुठारा जाय, इस कारण कठौता लाया।

भावार्थ – ७

झारी लई न परात लई,
न गिलास, घड़ा, लुटिया, बटलौती।

धातु को एक छुवो नहिं बासन,
लोहहू पै मति है ललचौती ॥
धूरि प्रभाव विचारि भरी,
जल "बिन्दु" उलीचन की ढ़रकौती ।
भाग ते जो रहि जाय रहै,
उड़ि जाय तौ काठ की जाय कठौती ॥

तात्पर्य रज प्रभावते उड़े तौ कठौती ही जाय। परीक्षा तो हो जायगी, नाव तो न उड़ेगी।

भावार्थ – ८

विरक्त वेश हैं उदासी हैं धातु स्पर्श कराना योग्य नहीं।

भावार्थ – ९

कठौता बड़ा पात्र होता है, कठौती छोटा पात्र होता है। नाव में प्राय: कठौती रहती है, कठौता प्रायः घर के भोजन आदि रखने के कार्य में रहता है। इसलिए कठौता घर के व्यवहार का पात्र लाया, जिसमें नित्य प्रसाद पाने के अवसर मिलें। कठौती लाता तो नाव का जल ही नित्य उलीचा जाता।

भावार्थ – १०

कठौती जल निकालती है, कठौता वस्तु रखता है। अतः चरणोदक उसने लिया जो वस्तु ग्रहण करने वाला पात्र है, चरणोदक उस पात्र में नहीं लिया जो बाहर निकाल देता है।

भावार्थ – ११

गोस्वामी जी कठौता कह रहे हैं। कठौता पुल्लिंग है, कठौती स्त्रीलिंग है। तात्पर्य यह है कि रज शायद मनुष्य बना ही दे, तो पुत्र बनाए लड़की न बनाने पावे।

अति आनन्द उमगि अनुरागा

अति आनन्द उमगि अनुरागा।
चरन सरोज पखारन लागा॥

भावार्थ – १

प्रभु रुख पाइ कै बुलाइ बाल घरनि को,
बन्दि कै चरण चहुँ दिशि बैठे घेरि घेरि।
छोटो सो कठौता भरि आनि पानी गंगाजी को,
धोइ पाँय पीवत पुनीत बारि फेरि फेरि॥
तुलसी सराहैं ताको भाग सानुराग सुर,
वरषैं सुमन जय जय कहैं टेरि टेरि।
बिबुध सनेह सानी बानी असयानी सुनि,
हँसे राम जानकी लखन तन हेरि हेरि॥

आज्ञा का इन्तजार भी नहीं, जरा सा रुख मिला कि पैर धो ले, बस फिर क्या था, लगा बुलाने घर के सब लोगों को। यथा –

जोवो रे चरण रघुराज के निषाद कहै,
धावो वेग धावो मोह नींद जनि सोवो रे।
सोवो रे कृपा की छाँह छकि कै निहारौ छबि,
आये हाथ पारस को भूल में न खोवो रे॥
खोवो रे शरीर के सकल पाप ताप दाप,
गंग जन्म दातन को स्वागत सँजोवो रे।
जोवो रे दृगंजन से मजु वर कंजन से,
धोवो फेरि जोवो फेरि धोवो फेरि जोवो रे॥

आवाज लगने भर की देर थी, जिसने भी सुना मानो पहले ही से वहाँ बैठा है, छोटे-बड़े स्त्री-पुरुष कच्चे-बच्चे सभी श्री राघव चरणारविन्द

को घेर कर बैठ गये, जैसे कमल के चारों तरफ काले भ्रमरों की पंक्ति लग रही हो, या जैसे रामेश्वर के मंदिर के चारों तरफ बैठकर मद्रासी विप्र-मण्डली भोजन की प्रतीक्षा कर रही हो, या जैसे चातक पक्षियों की कतार मेघ को घेर कर स्वाति बून्द की अभिलाषा करती हो। केवट ने झटपट छोटा सा कठौता उठाया और दौड़ गया तट पर। गंगा जल भरकर ले आया और लगा धोने प्रभु पद पंकजों को। "अति आनन्द उमँगि अनुरागा" की दशा तो देखिये –

कर में सुधारे जात, हिय बिच धारे जात,
हीनता बिचारे जात, दीनता उचारे जात।
सिसकि सहारे जात, तन मन हारे जात,
पादुका उतारे जात, जाति कुल तारे जात।
"बिन्दु" रज तारे जात, जात के निकारे जात,
रेखाहू उभारे जात, दुबकि दुलारे जात।
चूमि चुचुकारे जात, निहर निहारे जात,
नैन नीर ढारे जात, चरण पखारे जात॥

खूब मल-मल कर धो लिया, फिर उस पुनीत वारि को फिर-फिर पी रहा है, मानो उस चरणोदक से तृप्ति ही नहीं होती। परिवार भी उसे पीने के लिए दौड़ पड़ता है। देवतागण अनुराग में मग्न होकर केवट के भाग्य की प्रशंसा कर रहे हैं, पुष्प वर्षा कर रहे हैं, और "जय हो! जय हो!", ऐसी आवाज लगा रहे हैं। देवताओं की इस प्रकार की असयानी वाणी, चतुरता रहित प्रेम भरी वाणी सुनकर (क्योंकि देवता चतुरता से खाली पासा नहीं फ़ेंकते) हँसे। कौन? श्री राधव। किसकी तरफ देख देखकर? श्री जानकी जी और लक्ष्मणलाल जी की तरफ। हँसने का कारण यह कि केवट का अनुराग देख कर स्वार्थी सुर भी मग्न हो रहे हैं – यह आश्चर्य है।

बरषि सुमन सुर सकल सिहाहीं

बरषि सुमन सुर सकल सिहाहीं।
यहि सम पुन्यपुंज कोउ नाहीं॥

पुष्पाणि ववृषुर्देवाः प्रशंसन्ति मुहर्मुहुः।

(ब्रह्म पुराण)

देवता लोग पुष्प वर्षा करते हैं और बार बार प्रशंसा करते हैं।

भावार्थ – १

देवता केवट पर पुष्प वर्षा कर रहे हैं, श्री राघव पर नहीं। कारण कि बनवास में श्री राधव पर पुष्प वर्षा उचित नहीं, यह शोक समय है (आगे भी शायद वनवास में पुष्प वर्षा नहीं हैं)।

भावार्थ – २

समस्त लोक पुष्प चढ़ाते हैं देवताओं पर, परन्तु रामचरणानुरागियों पर (चाहे वह नीच ही क्यों न हो) देवता पुष्प चढ़ाते हैं।

भावार्थ – ३

सुर स्वार्थी तो हैं ही – केवट झगड़ रहा था, देवता दुखी थे कि नाव न मिली तो गंगा पार होना कठिन और गंगा पार न हुए तो रावण वध कठिन, परन्तु अब पुष्प वर्षा करने लगे। वह इसलिए कि गंगा पार होने की तरकीब निकल आई।

भावार्थ – ४

किसी ने केवल चरणोदक लिया (ब्रह्मा, शिव), किसी ने पद रज ली (अहिल्या), किसी ने पादुका ली (श्री भरत जी), किसी ने पद ध्यान लिया (श्री जानकी जी – "निज पद नयन दिये, मन राम चरण महँ

लीन")। परन्तु इसने पादोदक, पद रज, पादुका ध्यान और कहाँ तक कहा जाय श्री राम पद तक प्राप्त कर लिया। इस कारण "यहि सम पुण्य पुञ्ज कोउ नाहीं।"

भावार्थ – ५

किसी ने राज देकर पाया (बलि ने), किसी ने ताज देकर पाया (शिव ने – ताज शीश का जटाजूट), किसी ने कन्या देकर पाया (जनक ने), किसी ने प्राण देकर (आत्म समर्पण करके) पाया। परन्तु इसने नाव देकर ही पाँव धो लिये। अतः "यहि सम पुण्य पुञ्ज कोउ नाहीं।"

भावार्थ – ६

सर्वस दै धोयो जिन्हें बलि बिधि और बिदेह।
तिन पद को सर्वस्व लै केवट धोयो गेह॥

भावार्थ – ७

एक राजा का प्रण था कि जो सन्त सूखे वृक्ष को हरा कर देगा, मैं उसका शिष्य हो जाऊँगा। इसी अभिप्राय से एक सूखा वृक्ष उसने बहुकालीन सुरक्षित रख छोड़ा था। एक दिन श्री महात्मा मुरारीदास जी वहाँ पहुँचे। उन्होंने राजा से वैष्णव हो जाने को कहा, राजा ने अपना प्रण सुनाया। मुरारीदास जी ने एक राह चलते कोढ़ी से श्रीराम नाम उच्चारण कराया और उसका चरणोदक उस वृक्ष में डलवा दिया, वह वृक्ष हरा हो गया। राजा ने आश्चर्य से पूछा कि महाराज आपने किसी सुन्दर महात्मा का चरणोदक इस वृक्ष पर क्यों न डलवाया, इस कोढ़ी का क्यों? श्री मुरारीदास जी महाराज ने उत्तर दिया कि जड़ को हरा करने के लिये सुकृत राम नाम उच्चारण करने वाले कोढ़ी का ही चरणोदक काफी है। सुन्दर सन्तों का चरणोदक तो हरा नहीं, हरी कर देता है। इतना कहकर समस्त सन्तों का चरणामृत लेकर मुरारीदास जी ने उस कोढ़ी को पिलाया, तत्काल वह दिव्य रूपधारी हो गया। यह लीला देख कर राजा ने उसी से दीक्षा लेली। जब हरिदासों के चरणोदक में यह प्रभाव है, तो

श्री हरी चरणों के चरणोदक में क्या प्रभाव होगा? अतः "यहि सम पुण्य पुञ्ज कोउ नाहीं।"

भावार्थ – ८

सिहाहीं हाय हम केवट क्यों न भये।

पद पखारि जलु पान करि

पद पखारि जलु पान करि, आपु सहित परिवार।
पितर पारु करि, प्रभुहि पुनि मुदित गयउ लेइ पार॥

पदौ प्रक्षाल्य पीत्वा च जलं परि जनैवृतः।
नीत्वा पारं पितॄन् हृष्टः प्रभु पारं निनाय सः॥

प्रभु के चरण धोये और चरणोदक को परिवार समेत केवट पान कर, पितरों को पार ले जाकर, प्रसन्नता से प्रभु को पार ले गया।

भावार्थ – १

चरणोदक लिया केवट ने, और पार पितर कैसे हुये? पितरों ने तो पिया नहीं। जैसे केवल बीज मात्र के सिंचन से ही मूल, शाखा, वृक्ष इत्यादि सब का सिंचन हो जाता है, उसी प्रकार केवट के चरणोदक लेने से परिवार-पितर सभी पार हुये।

भावार्थ – २

केवट के पूर्व जन्म के पिता वसिष्ठ हैं, और वसिष्ठ के पिता ब्रह्मा। उनको भी पार करने अर्थात् –

आ ब्रह्म भुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोर्जुनो।
मामुपेत्य तु कौन्तेय, पुनर्जन्म न विद्यते॥

"ब्रह्म भुवनात् आ लोका:" (ब्रह्म भुवन तक सम्पूर्ण लोक), "पुनः आवर्त्तिनः अर्जुन" (हे अर्जुन! पुनरावृत्ति वाले हैं – आवागमन आदि सहित हैं) "तु" (परन्तु) "माम् उपेत्य" (मुझे प्राप्त होकर) "कौन्तेय" (हे कुन्तीपुत्र) "पुनर्जन्म न विद्यते" (फिर जन्म नहीं होता है)।

इस गीता के प्रमाणानुसार "पितर पार करि", ब्रह्मलोक को भी पार करके –

न तद्भासयते सूर्यो, न शशांको न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते, तद्धाम परमं मम॥

श्री साकेत धाम का स्वयं अधिकारी होकर, फिर प्रभु को प्रसन्नता पूर्वक पार लेकर गया।

भावार्थ – ३

जेहिं सों प्रगटत नित्य हैं, गति मति मोक्ष प्रसाद।
पितरन कहूँ तेहि तीर्थ सों, तर्पण कीन्ह निषाद॥

उतरि ठाढ़ भये सुरसरि रेता

उतरि ठाढ़ भये सुरसरि रेता।
सीय रामु गुह लखन समेता॥

भावार्थ – १

"ठाढ़ भये सुरसरि रेता" – पण्डे ने यात्रा करा दी, अब उसे गंगा किनारे ही दान देना है, इससे आगे नहीं बढ़े रेत पर ही खड़े हो गये।

भावार्थ – २

पिता को पुत्री का, और पुत्री से भी अधिक नाती का मोह होता

है। यहाँ श्री गंगा जी पुत्री और गंगा जी जिसका पालन करें, वही गंगा का पुत्र (केवट, जो सरकार का नाती होता है) दोनों छोड़े नहीं जाते। इससे "ठाढ़ भये।"

भावार्थ – ३

यह नाव से उतरने का क्रम लिखा है।

सीय – रामु – गुह लखन समेता।
उतरि ठाढ़ भये सुरसरि रेता॥

श्री किशोरी जी सुकुमारी हैं, इसलिये उतरि जरा देर से। जब तक उतरें, तब तक श्री राघव जी उतर कर उन्हें सहारा देने के लिये ठाढ़ भये। उधर निषाद और लखनलाल जी इतने शीघ्र उतरे कि पहले ही सुरसरि रेता (रमण रेती) पर पहुँच गये, क्योंकि सेवक को स्वामी से पहले उतरना चाहिए (वर्त्तमान उदाहरण मोटर ड्राइवर है, कि मालिक से पहले उतर कर दरवाजा खोलता है)।

प्रभुहिं सकुच एहि नहिं कछु दीन्हा

केवट उतरि दण्डवत कीन्हा।
प्रभुहिं सकुच एहि नहिं कछु दीन्हा॥

भावार्थ – १

"प्रभुहिं सकुच" यात्री निश्चित स्थान पर पहुँचा दिया गया, यद्यपि जो मजदूरी तय हो चुकी वह पहले ही दी जा चुकी है, फिर भी यात्री के उतरते ही कोचवान सलाम करता है। यात्री यदि विशेष उदार चित्त है, रईस है, दयालु है, तो विचार करता है कि इसने इसीलिए सलाम किया है कि कुछ इनाम और मिलना चाहिए। परन्तु उस समय यदि यात्री के पास कुछ भी न हो तब? आह! उस समय का संकोच, वह लज्जा, वह

कृतज्ञता सूचक दृष्टि का अनुभव वही व्यक्ति कर सकता है कि जिसने कभी उपरोक्त स्वभाव का होकर ऐसे समय का स्वयं अनुभव किया हो। यही दशा यहाँ भी दण्डवत करते ही हुई।

भावार्थ – २

एकहि दान शिरोमणि साँचो।
जेहि याचो सोइ याचकता वश, फिरि बहु नाच न नाचो॥
सब स्वारथी असुर-सुर-नर-मुनि, कोउ न देत बिनु पाये।
कौशल पाल कृपालु कल्प तरु, द्रवत सुकृत सिर नाये॥

यह उदारता की पराकाष्ठा है कि दण्डवत करते ही –

प्रभुहिं सकुच एहि नहिं कछु दीन्हा।

भावार्थ – ३

प्रभु ने विचारा कि उतराई तो – श्री चरण रज, पहले ही ले चुका है? अब क्यों दण्डवत करता है? कदाचित् इसका यह आशय होगा कि "चरण रज तो मैंने अपने आग्रह से ले ली है, परन्तु आपने मुझे क्या दिया।" बस यही संकोच हुआ कि "यहि कछु नहिं दीन्हा।"

भावार्थ – ४

आपने सोचा कि "पितर पार करि" अर्थात् इसे मोक्ष ही तो दिया है, और मोक्ष तो मैं राक्षसों तक को दे देता हूँ। वह तो बड़ी साधारण सी वस्तु है। अतः यदि मोक्ष ही इसे दिया है, तो वाकई इसका दण्डवत करना ठीक है। मैंने इसे "कछु नहि दीन्हा।"

सरकार का स्वभाव ही ऐसा है कि दिया भूल जाते हैं, लिया नहीं भूलते। श्री लक्ष्मण और अंगद से ली हुई सेवा तो द्वापर तक न भूले, परन्तु आपने जिसे जो कुछ दिया उसकी चर्चा भी न चलने दी। गोस्वामी जी ने इसी स्वभाव पर एक पद कहा है कि –

सुनि सीता पति शील सुभाउ।
मोद न मन तन पुलक नैन जल,
सो नर खेहर[१] खाउ ॥ १ ॥

शिला शाप सन्ताप विगत
भई, परसत पावन पाँउ।
दई सुगति सो न हेरि हरष
हिय, चरण छुये पछिताउ॥ ४ ॥

कपि सेवा वश भये कनौड़े[२],
कहेहु पवन सुत आउ॥
देबे को न कछू ऋणियाँ हौं,
धनिक तू पत्र लिखाउ ॥ ७ ॥

निज करुणा करतूति भक्त
पर, चँपत[३] चलत चरचाउ।
सकृत प्रणाम प्रणत यश वरणत,
सुनत कहत फिरि गाउ ॥ ९ ॥

समुझि समुझि गुन ग्राम राम
के, उर अनुराग बढ़ाउ।
"तुलसिदास" अनयास राम
पद, पइ है प्रेम पसाउ ॥ १० ॥[४]

उपरोक्त स्वभाव के ही कारण केवट को रज और मुक्ति जो दे चुके

---

१. खेहर – राख, खाक, धूल, मिट्टी

२. कनौड़े – अहसानमंद, कृतज्ञ इत्यादि

३. चँपत – चंहत (दाब देते हैं)

४ उपरोक्त पद के नं० २, ३, ५, ६, ८ के पद अधिक होने के कारण लिखे नहीं गये, यदि देखना चाहें तो विनय पत्रिका नं० १०० का पद देखें।

हैं, वह तो गये भूल, अब और कुछ देना चाहते हैं।

भावार्थ – ५

"केवट उतरि" केवट भी बड़ा चतुर है। उसने सोचा जब मैं ऐंठ ऐंठ कर माँग रहा था, तब तो सर्व सम्पत्तिमयी श्री पद रज मिल गई। और अब यदि दण्डवत् करके नम्र भाव से याचना करूँगा, तो न जानें क्या अमूल्य वस्तु मिले? क्योंकि –

बिन माँगे मोती मिलै, माँगे मिलै न भीख।

अतः "केवट उतरि दण्डवत कीन्हा।"

भावार्थ – ६

इस चौपाई में ही सरकार की तीन आकृति-गंगा पार होते होते तक सूचित कर दी गई हैं। यथा –

जब केवट नाव पर है – तब तो केवट है ही (उतराई ले ही चुका, अब क्या है)

सरकार नाव पर हैं – तब तो (प्रभु ही) समर्थ हैं, चिन्ता ही किस बात की? रज दे ही चुके।

जब केवट नाव से (उतरि) उतर कर सामने चला – तब सरकार के हृदय में (सकुच) पैदा हुआ कि कहीं फिर न कुछ माँगे।

जब केवट ने साष्टांग "दण्डवत कीन्हा" कि राजा बलि की तरह यह शरीर ही अर्पण कर रहा हूँ, तब सरकार को भी विचार हुआ कि इतने बड़े समर्पण पर यदि रज ही दी, तो "यहि कछु नहि दीन्हा।"

भावार्थ – ७

श्री राघव तो गंगा तर ही चुके हैं, उधर "केवटउ" (केवट भी) "तरि" (तरि कै) "दण्डवत कीन्हा। प्रभुहिं सकुचि" (संकुचित भाव से प्रभु को दण्डवत करने लगा) तब भगवान ने कहा संकुचित क्यों है? श्री

गोस्वामी जी ने कहा कि आपने तो इसे चरण रज दे दी (पाइ उतराई), परन्तु इसके परिवार और मित्रों को जो आपने पार किया उसकी एवज में "यहि कछु न" इसने कुछ नहीं दिया। तब सरकार ने कहा कि इसमें संकोच की क्या बात है, इसने तो "ही दीन्हा"। "ही" अर्थात् हृदय। "हरषे हेतु हेरि हर ही को। किय भूषण तिय भूषरण ती को।", क्योंकि भक्त सिवा इसके और दे ही क्या सकता है? और इसके अतिरिक्त भगवान और ले भी क्या सकते हैं? अहा! किसी भक्त ने कहा कि भगवान् तुम्हें क्या दूँ –

रत्नाकरोहि सदनं, गृहणी च पद्मा,
किं देय मस्ति भवते, जगदीश्वरस्य।
राधा ग्रहीत मनसो, मनसोऽस्ति दैन्यं,
दत्तं मया निज मनः, तदिदं गृहाण॥

जवाहरात क्या दें, रत्नाकर तो आपका मकान ही है। धन क्या दें, लक्ष्मी आपकी स्त्री ही हैं। हे जगदीश्वर, श्री राधा जी ने आपका मन चुरा लिया है, इस कारण आप मन से हीन होकर दैन्यावस्था में जान पड़ते हैं, तो चिन्ता क्या है? मैं अपना मन देता हूँ, इसे लीजिये! इसी से सरकार ने कहा है कि "ही दीन्हा।" धन्य है सरकार की उदारता – विभीषण को भी अतुल सम्पत्ति देकर यही संकोच है और सुदामा को भी तीन लोक देकर यही संकोच करते हैं कि "तीन मूठी तन्दुल तीनों लोक थोरे हैं।"

भावार्थ – ८

केवट ने जब दण्डवत् की तब प्रभु को संकोच हुआ। इस से यह सिद्ध होता है कि प्रभु ने पार उतरने पर केवट को कुछ देना होगा, यह विचार नहीं किया था। कारण कि केवट के "प्रेम लपेटे अटपटे बैन" में आप इतने मस्त हो गये थे कि आपको यह ध्यान ही न रहा कि नाव तो माँग रहा हूँ, परन्तु पार उतर कर दूँगा क्या? और यात्रियों के भारवाहक का ढंग ही निराला होता है। जैसा यात्री देखते हैं वैसी याचना करते हैं। किसी से पहिले माँग लेते हैं, किसी से बाद को और किसी को छोड़कर

उधार भी कर देते हैं। मुख्यतः यात्रियों का कार्य कर देने के बाद, जब भारवाहक लोग प्रणाम करते हैं तभी उनकी याचना का पता चलता है। भगवान श्रीराम को केवट दण्डवत् न करता, तो कदाचित् कुछ देने का ध्यान न आता। परन्तु जब उसने दण्डवत् की, तो भगवान ने सोचा कि यह दण्डवत् क्यों है। कदाचित् इसलिये है कि इसको कुछ उतराई नहीं दी गई और यह सोचते ही कि उतराई नहीं दी गई, प्रभु को संकोच हुआ कि अब क्या दें? और प्रभु को संकोच करते हुए देख कर केवट भी विस्मित सा रह गया कि मैंने तो श्रद्धा पूर्वक दण्डवत् की थी – कुछ याचना के लिए नहीं, परन्तु कभी कभी श्रद्धा का प्रणाम भी स्वामी को संकोच के भ्रम में डाल देता है। दोनों की किंकर्त्तव्य अवस्था का यह दृश्य अवर्णनीय है।

भावार्थ – ९

"प्रभुहिं सकुच यहि कछु नहिं दीन्हा" यद्यपि केवट ने भगवान श्री राघवेन्द्र से वह वस्तु प्राप्त की है जिससे अधिक अब और कोई देने की वस्तु हो ही क्या सकती है। फिर भी प्रभु को संकोच है और वह संकोच इसलिए है कि प्रभु ने विचार किया कि इसने जो चरण रज ली है वह इसकी श्रद्धा का मूल्य हो सकता है, परन्तु पार की उतराई (पारिश्रमिक) नहीं। श्रद्धा का और भगवान की चरण रज का मूल्यांकन न आज तक कभी हुआ है, न भविष्य में कभी हो सकता है। अतः अमूल्य श्रद्धा के बदले में इसने अमूल्य रज तो प्राप्त कर ली है, परन्तु पार उतराई का तो मूल्य होता है और वह मूल्य निर्धारित भी होता है, तथा किसी विशेष व्यक्ति के व्यक्तित्व के अनुसार भी होता है। केवट की समझ से मैं विशेष व्यक्तियों में से हूँ, तभी तो इसकी इतनी अपार श्रद्धा है। अब यदि पार हो जाने के बाद इसकी जो उतराई निर्धारित है, वह भी इसे न दी जाये तो मेरा व्यक्तित्व ही क्या रहा। यदि मैं ऐसा ही मान लूँ कि मेरी चरण रज इसने धो ली, यही क्या कम है? क्योंकि इस केवट जैसे छोटे व्यक्ति के यहाँ एक चक्रवर्ती राजघराने का महापुरुष अतिथि होगा, उसके कठौते में पाँव धुला रहा है, यह क्या कम सम्मान की बात है? परन्तु सभ्य

महापुरुषों के विचार से यह अन्याय है। माना कि केवट छोटी जाति का है और उसके यहाँ लोक-लोकेश्वर भगवान श्री रामचन्द्र अपने चरणारविन्द धुला रहे हैं, यह सम्मान कदाचित ब्रह्मा व शंकर आदि को भी प्राप्त न हुआ होगा, परन्तु क्या इस गौरव से केवट का पेट भर जायेगा? घाट में यात्री अधिक आने लगेंगे, पार उतराई की आय क्या बढ़ जायगी? यदि यह सब कुछ नहीं हो सकेगा, तो एक बड़ा आदमी अपने बड़प्पन की शान में, केवल पैर धुला कर किसी मजदूर की मजदूरी का भुगतान समझ ले, तो यह उसका मिथ्याभिमान है अथवा केवल दम्भ मात्र ही कहा जायेगा।

श्री राघवेन्द्र को यही संकोच हुआ और वह भी इसलिये हुआ कि भविष्य में कोई भी बड़े लोग, छोटों पर इस प्रकार की मिथ्याचारिता से अनीति करने का दुःसाहस न करें।

भावार्थ – १०

संकोच का एक कारण यह भी है कि मैंने इसे चरण रज दे दी और इसने मुझे नौका द्वारा पार किया, अब यदि इसे कुछ न दिया जाये तो इसकी नौका द्वारा पार उतर जाने का मूल्य मेरी चरण रज ठहर जाती है। और इसकी नौका द्वारा पार उतराई साधारण से साधारण है। मेरी चरण रज अमूल्य समझी जाती है। यदि साधारण उतराई के बदले त्रिलोक दायनी रज का साम्य कर दिया जाये, तो क्या यह सुसंगत होगा? अतः यदि चरण रज के उस अलौकिक माहात्म्य को घटाना न चाहें तो इसका उपाय यही हो सकता है कि केवट को पार उतराई दे दी जाये।

गीता में भगवत् वाक्य है – "यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः" अर्थात् बड़े लोग जैसा आचरण करते हैं, अन्य लोग भी उनका अनुकरण करने लगते हैं। आज यदि मैं केवल पैर धुला कर, बिना उतराई दिये पार हो जाऊँगा, तो कल से कहीं यह लोक चर्चा ही न प्रसिद्ध हो जाये कि इस घाट का केवट केवल पैर धोकर ही यात्रियों को पार उतार देता है, उतराई नहीं लेता। तो मेरे चरणों में श्रद्धा रखने के कारण इसका तो व्यापार ही चौपट हो जायेगा और उतराई दे देने से यही ख्याति रहेगी कि

यद्यपि राम में केवट की अपार श्रद्धा थी और केवट उनसे उतराई नहीं लेना चाहता था, फिर भी राम ने घाट के नियमानुसार वनवासी उदासी वेष में होते हुए भी, उतराई दे ही दी – तो फिर हम सब लोगों को भी इसकी उतराई अवश्य देनी चाहिये। इस विचार से भगवान को संकुचित होना पड़ रहा है।

मनि मुदरी मन मुदित उतारी

पिय हिय की सिय जाननिहारी।
मनि मुदरी मन मुदित उतारी॥

भावार्थ – १

आखिर सरकार के संकोच को मिटाये कौन? जो त्रिलोक के संकोच को दूर करते हैं, उनका संकोच कौन दूर करे? केवल श्री किशोरी जी ही तो इस कार्य में समर्थ हो सकती हैं। लक्ष्मण लाल जी आन्तरिक सेवक थे, परन्तु इस समय कुछ सहायता न कर सके। आखिर श्री महारानी जी ने ही संकोच दूर किया, मणि मुँदरी मुदित होकर, उतार कर सरकार को दे दी कि – दे दीजिये संकोच क्यों?

भावार्थ – २

"मन मुदित" – आप कहते थे कि, तुम्हारा वन में चलना ठीक नहीं, हमारे वनवास में बाधा होगी। आज मैं न होती तो आपका यह संकोच दूर कौन करता? आज मेरा आना सफल हो गया, इससे "मुदित।"

उद्भवस्थिति संहार, कारिणीं क्लेश हारिणीम्।
सर्व श्रेयस्करीं सीतां नतोऽहं रामवल्लभाम्॥

उत्पत्ति, पालन, संहार इत्यादि की यही स्वामिनी हैं। इसलिए केवट

को आवागमनादि से मुक्त होने की मुहर दे रही हैं।

भावार्थ – ३

केवट को राघव ने (पार) उतारा और केवट ने श्री राम को (पार) उतारा, अब श्री किशोरी जी "मुदरी उतारी", मुदरी जानती है (क्योंकि दिव्य आभूषण है) केवट मुझे न लेगा। मैं श्री राघव की अँगुली में रह जाऊँगी। इसलिये –

अवध मातु, मैं बन भई तैं करते विपरीत।
री मुँदरी तो तियन की को करिहै परतीत॥

"मणि[१] मुँदरी मन मुदित" (मणि की मुँदरी प्रसन्न है)। क्यों? इसलिये कि श्री महारानी जी ने मुझे भी (पार) उतारी।

भावार्थ – ४

त्यागी-उदासी पाषाण और काष्ठ ही स्पर्श कर सकते हैं – धातु नहीं। इसी कारण सुवर्ण मुँदरी नहीं, मणि मुँदरी, केवल मणि की जो बनी है, वही उतारी (यही कारण श्री जानकी जी के चूड़ामणि भेजने का भी था – सुन्दर काण्ड)।

भावार्थ – ५

यह अर्थ धर्म, काम, मोक्ष दायिनी मुद्रिका केवट को दे रही हैं कि केवट स्वयं चारों पदार्थ उससे ले सके और जिसे चाहे दे भी दे

भावार्थ – ६

जहाँ विद्या-माया की निशानी होती है, वहाँ अविद्या-माया नहीं जाती है, मानो निशानी दे रही हैं कि अविद्या-माया अब तुम्हारे पास न आयेगी।

---

१. यह मणि मुँदरी वास्तव में चिन्तामणि है

भावार्थ – ७

"मन मुदित" – आज कल की स्त्री हों, तो जल ही जाँय कि रही सही एक अँगूठी पास में है, उसे भी उतरवाये लेते हैं। परन्तु श्री महारानी जी मुदित हैं अर्थात् क्लेश का नाम नहीं, बल्कि प्रसन्नता है।

ईश्वरचन्द विद्यासागर से एक दिन एक दीन हीन ब्राह्मण मिला और उसने प्रार्थना की कि मेरी कन्या युवती हो चुकी है, उसका पाणिग्रहण संस्कार निश्चित हो चुका है। मैंने वर-पक्ष वालों से यह निश्चित् कर लिया था कि मैं तीन मास के बाद पाणिग्रहण संस्कार कर दूंगा, परन्तु अकस्मात परसों रात्रि को मेरे यहाँ चोरी हो गई और विवाह के लिये जो कुछ मैंने एकत्रित किया था वह सब चला गया। अब मुझे सूझ नहीं पड़ता कि मैं कहाँ जाऊँ, केवल आपकी शरण में आया हूँ। यदि आप मुझे सहायता दें, तो मैं इस भार से मुक्त हो सकता हूँ। विद्यासागर जी स्वभाव के बड़े उदार व्यक्ति थे, धन उनके पास टिकता नहीं था। उनकी धर्मपत्नी ने बड़े परिश्रम से आठ वर्ष में कुछ धन एकत्रित करके दो सोने के कड़े बनवाकर हाथ में डाल रखे थे। विद्यासागर जी ने यह संकल्प कर लिया था कि मेरी कमाई में कभी इतना अविशिष्ट धन नहीं हो सकता कि मैं पत्नी को कोई आभूषण बनवा दूँ। इसलिये पत्नी ने संचित करके जो कड़े बनवा लिये हैं, मैं यावज्जीवन उन्हें कभी माँगने की चेष्टा न करूँगा।

परन्तु कभी कभी विनोद में विद्यासागरजी अपनी धर्मपत्नी से यह कह दिया करते थे कि मैं तो जो कुछ पाता हूँ, वह परमार्थ में दे देता हूँ। परन्तु तुम जो कुछ पाती हो, उसे जोड़-जोड़ कर न जाने किसके लिये संचित कर रही हो। उनकी धर्मपत्नी यह उत्तर दे देती कि आप जो कुछ पाते हैं वह दूसरों को दे देते हैं और मैं जो कुछ संचित करती हूँ, वह किसी दिन आपको ही दूँगी। इस पर विद्यासागर जी कहते हैं कि इस जीवन में तो तुम्हें मुझसे ऐसी आशा नहीं करनी चाहिए। मैं संकल्प कर चुका हूँ कि मैं तुम्हारे संचित धन की तुमसे कोई सहायता न लूँगा, इस प्रकार उनकी धर्म पत्नी का मुख उदास हो जाता। आज उस ब्राह्मण की असहाय अवस्था देखकर विद्यासागर ने अपने कोट की सब जेबों में

हाथ डाला, और जब कहीं कुछ न मिला तब वह आकाश की ओर देखने लगे। आँखों में आँसू छलक आये, इतने ही में उन्हें धर्म पत्नी की हँसी सुनाई पड़ी। जब उन्होंने इधर उधर देखा तो उनकी धर्म पत्नी हाथ के दोनों कड़े निकाल कर उस ब्राह्मण को दे रही थी और हँसती हुई कह रही थी कि विप्रदेव तुमने आज याचना करके मेरे पति को संकोच नहीं दिया, मुझे कृत-कृत्य कर दिया। यहाँ "मणि मुँदरी मन मुदित उतारी" में भी इसी भाव का सामञ्जस्य है। क्योंकि श्री रघुनन्द जब वन चलने लगे, तो श्री जनकनन्दनी ने बड़ी प्रार्थना की कि मैं आपके साथ चलूँगी और श्री रघुनन्दन ने निषेध किया था। इस पर श्री जनकनन्दनी ने यह कहा था कि –

सबहिं भाँति पिय सेवा करिहौं।
मारग जनित सकल श्रम हरिहौं॥

परन्तु जब से चलीं तब से आज तक श्री जनकनन्दिनी से रघुनन्दन को किसी प्रकार की सेवा लेने का कोई अवसर नहीं मिला। कदाचित श्री रघुनन्दन ने यह संकल्प कर लिया होगा कि यदि तुम वन चल रही हो, तो तुम से मैं तो कुछ सेवा न लूँगा, परन्तु मुझे तुम्हारी सम्हाल अवश्य करनी पड़ेगी।

श्री जनकनन्दनी के हृदय में भी यह बात खटक रही थी कि मुझ से अभी तक वनवास में स्वामी को कोई सहयोग नहीं प्राप्त हुआ। वास्तव में मैं स्वामी के लिये भारस्वरूप ही प्रतीत हो रही हूँ। इसीलिये केवट के बैन सुन कर राघवेन्द्र तो श्री जनकनन्दनी और लक्ष्मण जी की तरफ देख कर हँसे, परन्तु जनकनन्दिनी उस हास्य में भी विशेष भाग न ले सकीं। क्योंकि इन्हें ऐसा भान हुआ कि मेरे ही कारण तो स्वामी को केवट से नाव मांगनी पड़ रही है। मैं न होती तो इनको केवट से निहोरा न करना पड़ता। परन्तु जब नाव से उतर कर केवट ने दण्डवत की और प्रभु को यहाँ संकोच हुआ, तब श्री जनकनन्दनी मन में मुदित हो गईं कि मैं यदि वन में साथ न आती तो आज स्वामी का यह संकोच दूर करने वाला कौन था? केवट यदि दण्डवत न करता तो प्रभु को संकोच ही न होता, और

यदि संकोच न होता तो उसे दूर करने के लिये श्री जनकनन्दनी साधन कैसे बनतीं। इसीलिये केवट की दण्डवत ही महारानी जी को मुदित बनाने का कारण है। और इस प्रसन्नता के उपहार में महारानी जी ने यह न सोचा कि उतराई क्या देनी चाहिये। उनके पास अष्ट-सिद्धि नव-निधि देने वाली सिद्धस्वरूप जो मुद्रिका थी, वही उतार कर दे दी। "मन मुदित उतारी" में यही आशय सुस्पष्ट हो रहा है।

कहेउ कृपाल लेहि उतराई

कहेउ कृपाल लेहि उतराई।
केवट चरन गहे अकुलाई॥

पारं गत्वा ब्रवीद्वाक्यं निषादं रघुनन्दनः।
गृहाण कर मूल्यं त्वं जग्राह चरणौ हरेः॥

(वसिष्ठ रामायण)

गंगा पार जाकर श्री रामचन्द्र जी ने निषाद से कहा कि तुम उतराई ग्रहण करो, यह सुनकर केवट ने भगवान के चरण पकड़ लिये।

जो रस "केवट उतरि दण्डवत् कीन्हा" और "प्रभुहि सकुच यहि कछु नहि दीन्हा" में है, वह केवल पार जाते ही निषाद से "तुम उतराई ग्रहण करो?" ऐसा कहने में नहीं है। उतना ही भेद है कि जितना एक रसिक में और शुष्क वेदान्ती में, और है भी यथार्थ ऐसा ही – श्री वसिष्ठ जी थे पूर्ण वेदान्ती, और गोस्वामी जी पूर्ण रसिक। अस्तु!

भावार्थ – १

"कहेउ कृपाल लेहि उतराई" – भगवन्! रज तो ले चुका, यह क्यों दे रहे हैं? वह रज तो माँगी "नाव न केवट आना" के बाद, नाव की लवाई में थी। और यह गंगा पार की उतराई है।

भावार्थ – २

ध्वनि है (प्रसन्नात्मक) – कृपालु ने कहा कि क्या उतराई लेगा? तो "केवट चरण गहे अकुलाई।"

भावार्थ – ३

"केवट चरण गहे" – इशारा कर रहा है, भगवन् उतराई से हाथ का आभूषण नहीं पाँव की पानही दीजिये तो ले सकता हूँ, यही मेरी औकात है।

भावार्थ – ४

इशारा किया कि जिनको मैंने पार उतारा (चरणों को) उनसे पहले ही ले चुका, आप देने वाले कौन?

भावार्थ – ५

उतराई में चरण आप दे ही चुके हैं। क्या अँगूठी देकर इन्हें अपने साथ ले जाना चाहते हैं? सो न होगा, आप भले जाँय परन्तु श्री चरण न जाने दूँगा।

भावार्थ – ६

इन चरणों से तौल कर जो वस्तु दें वह ले सकता हूँ, हीरा जवाहरात नहीं लेता। वास्तव में श्री सरकार के चरणों के बराबर तुल ही क्या सकता है? सत्यभामा ने सरकार को तौला तो नारद से हार खानी पड़ी।

भावार्थ – ७

मैं आपकी और आपके पिता की शपथ कर चुका हूँ कि उतराई न लूँगा, फिर यह क्या? मुझे और अपने तथा अपने पिता के सत्य को झूठा बनाना चाहते हैं?

भावार्थ – ८

मैं गृहस्थ और आप वनवासी, मुझे देना चाहिए कि उल्टा आपसे ले लूँ?

भावार्थ – ९

मैंने तीन व्यक्ति पार किये हैं और आपने तो परिवार सहित सैकड़ों पितृ पार किये। आपके पास देने को श्री चरण थे, मेरे पास क्या देने को है?

भावार्थ – १०

आपको पार कराने के ठेकेदार यह चरण ही हैं – न यह होते, न आप होते। इसलिये जो देना चाहें, इन्हें ही मज़दूरी दें –

नहीं लेके मजदूरी मुझे मज़दूर होना है।
गुलामी और मज़दूरी से अबतो दूर होना है॥
तुम्हारे दर्शनों से जबकि कट जाती है मज़दूरी।
हुजूरी दिल में बढ़ जाती घट जाती है मज़दूरी॥

तो फिर इन्साफ कर दो किस तरह इस दिल को समझाऊँ।
तुम्हारा दास बनकर फिर भी मैं मजदूर कहलाऊँ॥
ये माना पेट की खातिर ये कारोबार करता हूँ।
जो आते हैं मुसाफिर उनको गंगा पार करता हूँ॥
मगर तुम भी तो करुणाकर यही व्यापार करते हो।
करोड़ों को जगत सागर से पल में पार करते हो॥

जानैं कैसे भाव में सामने हो कृपानिधान,
विमल विचारवान बुद्धि के सयाने हो।
मणि मुँदरी को उपहार देत बार बार,
कौन धर्म सार सरकार उर आने हो॥
नात गोत बात को परस्पर न त्यागो "बिन्दु"

काहे जाते पाँत तोरिबे की हठ ठाने हो।
केवट हो "मैं" तो विधि गागर नदी को किन्तु,
आप भवसागर के केवट पुराने हो॥
हाजिरी हुजूरी में भयो है दास दीनानाथ,
नेक निज करुणा नज़र से निहार दो।
देत उपहार कहा मुँदरी मणी की मोंहि,
देत हौ तौ जन्म की कमाई एक बार दो॥
रत्न धन धाम "बिन्दु" काम के न मेरे कछु,
हो प्रसन्न राम घनश्याम, तो करार दो।
पार उतराई सरकार तब जानूँ जब,
पार भव सागर के मुझको उतार दो॥

पिय हिय की सिय जाननिहारी।
मनि मुदरी मन मुदित उतारी॥

श्री राघवेन्द्र श्री जनकनन्दिनी के हृदय की बात जान जाते हैं। यथा –

जानी सिय बरात पुर आई।
कछु निज महिमा प्रकटि जनाई॥
सिय महिमा रघुनायक जानी।
हरषे हृदय हेतु पहिचानी॥
प्रभु तन चितै प्रेम प्रन ठाना।
कृपा निधान राम सब जाना॥

यहाँ राम ने यह जाना कि यदि शीघ्र धनुष नहीं टूटा तो श्री जानकी जी के प्राण जायेंगे।

श्री जनकनन्दिनी ने पिय हिय जाना कि जब यह किसी के उपकार का बदला दे नहीं सकते, तो स्वयम् ही उसके आधीन हो जाते हैं। हनुमानजी के साथ यही व्यवहार हुआ।

सुनु कपि तोहि उरिन मैं नाहीं।

अतः अब यदि इस केवट को कुछ न दे सके, तो इसके हाथ स्वयम् ही बिक जायेंगे। इस प्रकार अयोध्या वालों के हाथ से भी चले आये हैं, और मेरे हाथ से भी जायेंगे। राज्य छोड़ कर वनवास और वनवास छोड़ कर केवट का दास न होना पड़े। यद्यपि यह मुद्रिका समस्त सिद्धि दातृ, ऐहिकामुष्मिकेश्वरी त्रिलोकाधिकार वर्त्तिनी है, परन्तु यह है धन और श्री राघवेन्द्र हैं धनी। यदि धनी बिक रहा हो और धन से छुड़ाया जा सकता हो तो धन दे देना चाहिये, और धनी को छुड़ा लेना चाहिये।

यदि कहो कि इस प्रकार कहाँ-कहाँ धनी को धन दे देकर छुड़ाती फिरेंगी, तो श्री महारानी जी ने विचार किया कि यदि यह किसी के कृतज्ञ हो जाते हैं, तो जब तक उससे उऋण नहीं हो जाते तब तक उसकी आज्ञा बिना कुछ करते नहीं। तो केवट इन्हें संकोच में खरीद रहा है, यदि मैं संकोच का बदला चुका दूँगी तो यह मेरे कृतज्ञ हो जायेंगे। और जब तक मेरे इस उपकार का बदला दे नहीं लेंगे, तब तक किसी और के यहाँ बिकेंगे भी नहीं। कह देंगे कि भाई अभी तो जनकनन्दिनी का ऋणी हूँ। इसलिए मुद्रिका देकर केवट से स्वामी को लेकर अपनी धरोहर रख रही हैं, अतः मन मुदित है। पत्नी वही है जो पति को अपना बनाने के लिये सर्वस्व दे डाले।

पिय के हिय में क्या है?

पत्नी वही है जो अपने पति के हृदय को पहचान ले। जो पत्नी अपने पति के हृदय को भली भाँति पहचान लेती है. वह उस हृदय के अनुकूल ही सारे काम करती है। जिससे कि पारस्परिक विरोध कभी पैदा होता ही नहीं। जिस पत्नी को पति के हृदय का ज्ञान नहीं होता, वह स्वयं भी कष्ट भोगती है और उसका ग्रहस्थ जीवन भी अशान्तिमय, कष्ट रूप हो जाता है। किन्तु जनकनन्दिनी तो –

पिय हिय की सिय जाननिहारी।

जिस प्रकार जानकी जी ने रिद्धि-सिद्धि बुलाई थीं, श्रीराम "हरषे

हृदय हेतु" – कारण जान कर प्रसन्न हुए। कारण यह था कि जनकजी ज्ञानी हैं, साधु हैं, इतनी बारात आ गई है, कैसे क्या प्रबन्ध होगा?

अयोध्या वापिस होने पर श्री किशोरी जी से कहूँगा कि तुम्हारे पिता से मेरी बारात भी न जिमाई जा सकी। इस व्यंग से बचने के लिए ही श्री जनक नन्दिनी ने "हृदय सुमिरि" सब सिद्धि थी। यहाँ श्री जनक नन्दिनी भक्ति हैं। केवट है भक्त, श्री राघव सोचते हैं कि इसे कुछ दे दें तो इसके भक्ति बन्धन से उऋण हो जाऊँ।

भक्त के हृदय को भगवान जानते हैं और भगवान के हृदय को भक्ति जानती है।

भगवान भक्त पर प्रसन्न होकर सब कुछ देना चाहते हैं। परन्तु उनके पास स्वयं कुछ है ही नहीं। इसलिये वह जो कुछ देना चाहते हैं वह भक्ति माता ही देती हैं।

श्री जनक नन्दिनी जी ने यह पिय हिय जान कर मन मुदित मुँदरी उतारी कि वहाँ बारात भेज कर मेरे पिता की परीक्षा की जा रही थी, यहाँ लालच देकर मेरे गरीब बेटे केवट की परीक्षा ली जा रही है। परन्तु स्वामिन! मेरी (भक्ति माता की) जिन बेटों (भक्तों) पर कृपा है, वह थोड़ा लालच तो क्या त्रिलोक की सम्पत्ति भी नहीं लेते। विश्वास नहीं है तो यह त्रिलोक विभूति-दायिनी मुद्रिका इस दीन दरिद्र केवट को देकर देखिये, लेता है या नहीं। आज इस परीक्षा में भी मेरा ही पक्ष प्रबल होगा।

कहेउ कृपाल लेहि उतराई।

भावार्थ – ११

केवट को केवल मुक्ति ही देकर कैसे विदा कर दें? मुक्ति तो शत्रु और राक्षसों को देते हैं, इसलिए यह मुद्रिका – जो चिन्तामणि है – वह केवट को देकर अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष चारों ही एक साथ दे रहे हैं। इसीलिए "मुदित" शब्द मुद्रिका का विशेषण है। चिन्तामणि जहाँ रहती है, वहाँ प्रसन्नता ही प्रसन्नता का निवास रहता है। अतः वह जो मुद्रिका

(सर्वदा) मन मुदित है, उसे श्री महारानी जी ने उतार कर दिया। केवट ने भी अकुला कर चरण इसीलिए पकड़ लिए कि कितनी ही विपत्तियाँ पड़ें, परन्तु चित्त अशान्त न हो तो सभी टल जाती हैं। मैं तो पार में ही हूँ, सुखी हूँ, आपकी कृपा से मग्न हूँ, परन्तु आप वन जा रहे हैं, अनेक विपत्ति आने की सम्भावना है, ऐसी दशा में यह चिन्तामणि रहेगी तो आपको चिन्तित न होने देगी, आपको इसकी परम आवश्यकता है, मुझे इसकी कोई आवश्यकता नहीं। केवल इसे किसी आले में रख कर पूजता रहूँगा। सम्पत्ति की केवल पूजा की जाए और उससे काम न लिया जाए तो व्यर्थ है। इसलिए भगवन्! मेरी पूजा वन्दना से, आपका कार्य भार लोकोपकार विशेष है, अत: इस चिन्तामणि को आप ही ले जाएँ, मुझे नहीं चाहिये।

भावार्थ – १२

भगवान की चरण रज भक्ति ही बड़ी कठिनता से प्राप्त होती है।

आवत ऐहिं सर अति कठिनाई।
राम कृपा बिनु आइ न जाई॥

यदि यह प्राप्त हो जाय, तो फिर भुक्ति और मुक्ति दोनों ही भगवान स्वयम् भक्त को लुटाने लगते हैं। और भक्त भगवान् के हाथों से भी प्राप्त होते हुए धन को त्याग कर, केवल उनके चरणों का ही दास बना रहना चाहता है।

भावार्थ – १३

मम दर्शन फल अमित अनूपा।
जीव पाव निज सहज स्वरूपा॥

समस्त प्रपञ्च-पूर्ण व्यवहारिक ज्ञानों से पृथक रहते हुए किसी की कृपा कोर से परिपालित, एवम् उसके अनन्याश्रय में रहना ही जीव का सहज स्वरूप है। अधिक अबोध बालक को एक करोड़ का हीरा दिखलाइये और उसकी माता चुटकी बजाकर अपनी गोद में बुलाए, तो

बालक माँ की गोद में जायेगा, हीरा नहीं छुएगा। क्यों? बालक को हीरे के गुण प्रपञ्च का, मूल्य का, और उसके उपयोग का ज्ञान नहीं है। और न वह माता की गोद का सुख छोड़कर उसका ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा ही रखता है। जहाँ संसार का ज्ञान हुआ, अपने पराए की सूझ हुई, गुण अवगुण विधि प्रपञ्च का ज्ञान हुआ, कि माँ की गोद तो क्या, माता को ही छोड़ कर मनुष्य चार पैसे के लिए मारा-मारा फिरने लगता है। अतः जीव का सहज स्वरूप है, मातृ गोद का सुख अनुभव करने में त्रिलोक की सम्पत्ति से, उसकी महत्ता से, उसके उपयोग से अबोध रहना। यदि उसे बोध करा दिया जाय तो समझिए कि उसे जान बूझकर जाल में फँसा दिया गया। और जब उस अबोध बालक को कोई जाल में फँसाने की चेष्टा करता है, और उसे यह पता चलता है कि मुझे माता से पृथक करने के लिए यह जाल बुना जा रहा है, तो वह भयभीत और आकुल होकर माँ से लिपट जाता है। इसी प्रकार मुद्रिका पुरस्कार जाल केवट के सामने बिछाया गया, तो अबोध बालक की तरह मातृ स्वरूप चरणों से आकुलता पूर्वक लिपट गया।

निरासकस्यापि न तावदुत्सहे
महेश हातुं तवपाद पङ्कजम्।
रुषः निरस्तोपि शिशुस्तनन्धयो न
जातु मातुश्चरणौ जिहासति॥

हे महेश! आपके द्वारा दूर हटाने पर भी मैं आपके चरणों को छोड़ नहीं सकता। यदि माता झुंझलाकर अपने बच्चे को गोद से पृथक् कर दे, तो भी दुधमुहा बालक क्या माता के चरणों को छोड़ सकता है? कदापि नहीं। माता जब बालक को हटाना चाहती है, तो कुछ देकर ही हटाती है। इसी प्रकार आप मुझ बालक को मुद्रिका सम्पत्ति देकर चरणों से हटाना चाहते हैं। परन्तु स्तनान्ध बालक जिसने स्तनों के दुग्ध पान के अतिरिक्त और कुछ संसार का देखा नहीं है, भला क्या वह इस मुद्रिका को लेकर परम पवित्र प्रेम रस दुग्धप्लावित चरणों को छोड़ सकता है? कदापि नहीं। अतः –

चरण गहे अकुलाई।

भावार्थ – १४

आपके श्री चरण श्री जनकजी ने धोए, और उस समय जब आप महाराजा दशरथ के राजकुमार थे, दूलह वेश में थे, "दुहुँ आँचरन्हि लगे मनि मोती" का शृङ्गार था। फिर धोए भी किसी पात्र में नहीं अपितु –

ते पद पखारत भाग्यभाजनु जनकु जैजै सब कहैं॥

अर्थात् भाग्य भाजन में चरण धोए। मैंने यह चरण आज धोए हैं, जब आपने राज्य त्याग दिया है। और आपका वनवासी वेश है –

अनुज सहित सिर जटा बनाए।
देखि सुमन्त नयन जल छाए॥

फिर मैंने चरण धोने के लिए भाग्य भाजन पाया नहीं, अतः "पानि कठौता भरि लै आवा" कठौता में पैर धोए। वह भी इस विचार से कि "तापस वेष विशेष उदासी" हैं – पात्र शायद छुएँ या न छुएँ? क्योंकि विशेष उदासी, धातु तो छूते नहीं। अस्तु! यह सब विपरीतावस्था होने पर भी श्री जनकजी ने चरण धोकर श्री महालक्ष्मी स्वरूपा श्री जनकनन्दिनी जी आपको भेंट में दीं, और मैं उन्हीं श्री जनकनन्दिनी का अमूल्य आभूषण चरण धुलाई में ले लूँ, तो भला इससे महान अपराध और क्या हो सकता है? फिर यह तो सोचिए कि चरण श्री जनकराज ने धोए और मैंने धोए, तो भाव तो एक ही हुआ। भला चरण धुलाई में जामात्र को कुछ देना चाहिए कि जामात्र से ले लेना चाहिए? वह भी आप तक बात नहीं है, श्री जनक नन्दिनी का भूषण है। भला दामाद के चरण धोकर कन्या का भूषण उतरवा लेना, क्या कोई महा नीच से भी नीच, ऐसा कार्य करेगा? त्राहिमाम् प्रभो! त्राहिमाम्! अतः "चरण गहे अकुलाई।"

भावार्थ – १५

आप प्रभु हैं, स्वामी हैं, त्रिलोकी नाथ हैं, जो कुछ दे रहे हैं वह

प्रसाद है। प्रभु के प्रसाद को न लेना प्रभु और प्रसाद दोनों का महा अपमान है, और यदि लेता हूँ तो उपरोक्त कारणों से वही पाप है। इसलिए न हाँ कर सका, न ना कर सका, किंकर्तव्यविमूढ़ होकर – "चरण गहे अकुलाई"

भावार्थ – १६

मैंने आपकी और आपके पिता की सौगन्ध खाई थी कि "न नाथ उतराई चहौं", क्या उस सत्यता की परीक्षा ली जा रही है? मैं परीक्षा के योग्य नहीं हूँ। आप जिसे प्रलोभन दें वह अपने सत्य पर कहाँ तक टिका रह सकता है? चाहे वह देवाधिदेव ही क्यों न हो, फिर मैं क्षुद्र जीव हूँ, भला मेरी क्या बिसात कि मैं आपके सत्य को डिगाने पर दृढ़ रह जाऊँ? परन्तु आप यह तो सोचें कि यदि मैं डिग जाऊँगा, तो सौगन्ध तो आपकी और आपके पिता की है। अतः असत्य सौगन्ध का परिणाम आप पर और आपके पिताजी पर पड़ेगा। क्योंकि झूठी सौगन्ध खाने वाले का पुण्य तो क्षय होता ही है, परन्तु जिसकी झूठी सौगन्ध खाई जाती है उसे भी सर्वथा हानि पहुँचती है। अतः मुझे चिन्ता नहीं है कि झूठा हो जाऊँगा, चिन्ता तो इस बात की है कि आप पर झूठी सौगन्ध की कोई आँच न आ जाय। अतः "केवट चरण गहे अकुलाई।"

भावार्थ – १७

यद्यपि आपका श्रीमुख वाक्य है कि –

दैवीह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्तिते॥

(श्रीमद्भगवद्गीता)

मेरी यह माया दुरत्यय है, अर्थात इस माया जाल से कोई निकल नहीं सकता। आज उस भ्रमोत्पादक माया जाल को यह मुद्रिका देकर मुझ पर डालना चाहते हैं; परन्तु मैं भी केवट हूँ, भली भाँति जानता हूँ कि जाल में कौनसी मछलियाँ फँसती हैं, कौनसी नहीं।

श्री ज्ञानेश्वर जी कहते हैं कि "भगवान केवट हैं, जीव मछली है, माया जाल है। भगवान जब माया जाल डाल देते हैं तो जीव मछली फँस जाती है, परन्तु जो मछली जाल बिछने पर जाल में न जाकर, धीवर के पैरों पर पहुँच जाती है वह जाल में नहीं फँसती। क्योंकि धीवर के पैर तो जाल के बाहर रहते हैं, वह जाल में फँसते नहीं। अतः मछली जो पैर पर होती है, वह भी जाल में नहीं फँसती, पैरों के ही प्रताप से बच जाती है।"

केवट ने इसीलिए जब उतराई का जाल बिछते देखा तो – "चरण गहे अकुलाई"

श्री चरणों के आश्रित हो गया और कहने लगा कि भगवन्! आपको मेरे लिए यह तो याद रहा कि –

मम माया दुरत्यया।

परन्तु आप यह भूल गये कि –

मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्तिते।

मिटे दोष दुख दारिद दावा

नाथ आजु मैं काह न पावा।
मिटे दोष दुख दारिद दावा॥

केवट ने अकुला कर चरण पकड़ लिए और बोला कि "हे नाथ! आज मैंने क्या नहीं पा लिया? मेरे दोष, दुख, दरिद्र और ताप सभी मिट गए।"

किं न प्राप्तं मया स्वामिनद्य श्री पाद् दर्शनात्।
नापरा हृदये वाञ्छा विहायैकां कृपां तव॥

(अगस्त्य रामायण, रामायण प्रमाणिका)

अर्थात् "हे स्वामिन! आज श्री चरण दर्शन से मुझे क्या नहीं मिल

गया? अब केवल एक आपकी कृपा को छोड़ कर, दूसरी कोई इच्छा हृदय में नहीं रह गई।"

भावार्थ – १

दोष, दुख, दरिद्र और ताप नाश होने के ही लिए तो सम्पत्ति की आवश्यकता होती है, जब उपरोक्त चारों ही मिट जाएँ तो फिर अब सम्पत्ति का कार्य ही क्या रह गया? अतः मैंने आज क्या नहीं पा लिया? अर्थात् अब किसी सम्पत्ति की आवश्यकता ही नहीं रह गई।

भावार्थ – २

आपके दर्शन स्पर्श भाषण से दोष, दुख, दरिद्र, दाव (ताप) आदि सभी मिट गए। यथा क्रम से देखिए –

दोष –

दोष तो यह था कि –

जासु छाँह छुइ लेइअ सींचा।
लोक बेद सबही बिधि नीचा॥

जिसकी छाया छूकर लोग स्नान करते हैं, भला वह लोक वेद से नीच जाति वाला केवट क्या किसी भी गणना में आ सकता था? परन्तु आपने जो चरण धुला लिए इससे –

बरषि सुमन सुर सकल सिहाहीं।
एहि सम पुन्यपुंज कोउ नाहीं॥

जब देवता उसके पुण्यों की प्रशंसा कर रहे हैं तो भला स्पृश्यता का दोष कहाँ रह गया? अतः मिटे दोष। प्रायः इस प्रकार के दोष मिटाने में या तो सम्पत्ति ही समर्थ है, या भगवत् कृपा ही। उसमें भी, सम्पत्ति से यह दोष मिटता नहीं है, दब भले ही जाय। परन्तु भगवत् कृपा से तो यह दोष ऐसा मिट जाता है कि "साधुरेव समन्तव्यः", बड़े-बड़े दुराचारी

भी साधु की गणना में हो जाते हैं।

रामु कहत पावन परम होत भुवन बिख्यात॥

दुःख –

अशान्ति का होना ही दुःख है, और शान्ति का ही नाम सुख है।

न च भावयतः शान्तिरशान्तस्यकुतः सुखम्।

जब तक श्रीचरण नहीं मिले थे तब तक अनेक अशान्तियाँ हिलोरें मार रही थीं – "प्रभु मुझ पर भी कृपा करेंगे या नहीं? मुझे यह चरण धोने देंगे या नहीं? मेरी हठ पर नाराज तो न हो जायेंगे? यदि चरणोदक न मिला तो क्या जीवन भर इसी प्रकार यात्रियों को ढोता ही रहूँगा, बस यही चक्कर चलता रहेगा? आवागमनादि से मुक्त होने का उपाय हाथ से निकल जाएगा?" आदि आदि। परन्तु प्रभु की एक ही मन्द मुस्कान भरी चरण धोने की आज्ञा ने, यह सब अशान्ति दूर कर दी। अतः "मिटे दोष दुख।"

दारिद –

जिसके पास जिस वस्तु का अभाव होता है, वह उस वस्तु का दरिद्री होता है।

जैसे विपुल वैभवशाली मनुष्य यदि अस्वस्थ होने के कारण केवल मूँग की खिचड़ी खाकर ही रहता हो, तो अनेक स्वादिष्ट पदार्थों का वह दरिद्री है। इसी प्रकार से मैं निषाद (निषादोजीव हिंसकः) भला मुझमें आतिथ्य का भाव कहाँ! मैं भला किसी अतिथि का पैर धोकर उसे पार करने का प्रस्ताव करूँ – यह कैसे सम्भव था? मैं आतिथ्य सेवादि का दरिद्री था, परन्तु आपके दर्शन से चरण धोने का उल्लास हुआ और यह ध्यान आया कि आपने तो परोपकार के लिए सर्वस्व त्याग दिया, मैं क्या आपको पार करने का भी उपकार नहीं कर सकता? यह विचार उत्पन्न होते ही वह जो आतिथ्य और उपकार का अभाव था, दूर हो गया। अतः

"मिटे दोष दुख दारिद।"

दावा –

अग्नि, जलन, ताप, यह तभी तक होती है कि जब तक हृदय में अनुराग का, प्रेम का, सरोवर हिलोरें न मारने लगे। मेरा हृदय त्रिताप से जल रहा था, परन्तु श्री चरणों को हाथ लगाते ही हृदय शीतल हो गया –

अति आनन्द उमगि अनुरागा।
चरन सरोज पखारन लागा॥

अतः "मिटे दोष दुख दारिद दावा।"

बहुत काल मैं कीन्हि मजूरी

भावार्थ – १

आपके दर्शन अनेक जन्म के पुण्यों से होते हैं। मैंने भी बहुत जन्मों से पुण्य जमा किये हैं – "बहुत काल मैं कीन्हि मजूरी।" उसका ब्रह्मा ने "आजु दीन्ह बिधि बनि भलि भूरी", इकट्ठा ही प्रतिफल दे दिया। क्योंकि –

सब साधन कर सुफल सुहावा।
लखन राम सिय दरसन पावा॥

इस दर्शन से क्या हुआ? कि –

मिटे दोष, दुख, दारिद दावा।

श्री चरण दर्शन से जन्म-मरण का दोष मिटा, जन्म-मरण का दुःख मिटा –

जनमत मरत दुसह दुख होई।

जन्म-मरण ही मिट गया, तो फिर दरिद्रता और दैहिक-दैविक-भौतिक तापत्रय तो रह ही कहाँ गए? इसलिए ब्रह्मा ने, अमित काल से जो मेरे पुण्य सञ्चित होते चले आ रहे थे, उनकी भूरी – बहुत, भलि – बढ़िया, बनि – बनाकर, मजूरी – आपकी श्री चरण रज दे दी। अब आप यह मुद्रिका देकर, क्या वह मजूरी वापस लेना चाहते हैं?

भावार्थ – २

जैसे किसी ग़रीब मज़दूर को हीरों की टोकरी की ढोवाई में, हीरे की खान में, एक हीरे के पत्थर का टुकड़ा दिया जाय और जब यह पता चले कि इस पत्थर के टुकड़े में तो कोहिनूर है, तो उस मज़दूर को हज़ार पाँच सौ रुपये का लालच देकर वह वापस माँगा जाय? इसी प्रकार आप मुझे यह मुद्रिका देकर, वह अमूल्य रज वापस लेना चाहते हैं कि "अरे उस रज में धरा ही क्या है, वह तो मार्ग की धूल है। तू जितनी चाहेगा उतनी ही मिल जाएगी। यह तो त्रिलोक की विभूति तुझे दे रहा हूँ।" भगवन्! मुझ ग़रीब को तो वह मार्ग की धूलि ही "भलि भूरी" मज़दूरी है। चार आने की मज़दूरी करने वाले को चालीस लाख रु० मज़दूरी दे दी जाय, तो राज्य के प्रबन्धक क्या यह अन्याय देख सकेंगे? इसलिए आप यदि यह मुद्रिका दे भी दें, तो मेरी मज़दूरी से यह बहुत अधिक है। ब्रह्मा इसे मेरे पास रहने नहीं देंगे। तो फिर ब्रह्मा ने ही जो मेरी औक़ात के मुताबिक मुझे दी है, वही मज़दूरी "भूरि" बहुत अधिक है। मेरा पात्रत्व जैसा है, वैसी ही मज़दूरी मुझे ब्रह्मा ने दे दी है। तो "अब कछु नाथ न चाहिअ मोरे", अब कुछ नहीं चाहिए।

भावार्थ – ३

यदि कहो कि विधि ने "भलि भूरि" दिया है, इसका क्या प्रमाण? तो भगवन्! यह प्रसिद्ध है कि "जब आवै सन्तोष धन, सब धन धूरि समान।" तो भला मैं चार-चार पैसे पर सर फोड़ने वाला निषाद, पैरों में लगी हुई एक-एक रजकण के लिए प्राण देने वाला केवट "बरु तीर मारहुँ लखन पै जब लगि न पाँव पखारिहौं", आज अभूतपूर्व सम्पत्ति मुद्रिका

मिलने पर भी यह कह दे कि "अब कछु न चाहिअ मोरे", तो भला यह कम सन्तोष है। और सबसे बड़ा जब यह सन्तोष धन प्राप्त हो चुका, तो "अब कछु नाथ न चाहिअ मोरे" क्योंकि "आज दीन्ह बिधि बनि भलि भूरी।"

भावार्थ – ४

अमित काल तक जो कर्म किए थे, उनकी "भलि भूरी मजूरी" ब्रह्मा ने चुका दी, खाता बन्द कर दिया। अब यह मुद्रिका लेकर फिर खाता खोला जाय, यह किसलिए? महाराज! आप महाजन हैं। एक रुपया देकर, बारह साल में एक सौ बनाते हैं। आपके यहाँ अब मैं यह मुद्रिका लेकर आगे के लिए खाता खोलना नहीं चाहता कि किसी जन्म में छुट्टी ही न मिले।

भावार्थ – ५

जन्म-मरण तो ब्रह्मा ही देते हैं, ऐसा सुना है। आप तो जन्म-मरण दोनों से रहित कर देते हैं। तो फिर जो जन्म-मरण देता है, उस विधि ने तो "बनि भलि भूरी मजूरी" – जन्म-मरण से, आज तुम्हारी चरण रज दिलाकर, मुक्ति दे दी। और आप "तुम ब्रह्मादि जनक जग स्वामी" होकर भी ब्रह्मा ने जिसे मुक्त कर दिया, उसे पुनः लेन-देन के चक्र में डाल कर जन्म-मरण देना चाहते हो! भगवन् – वाह! अच्छे दाता हो आप।

भावार्थ – ६

अमित काल से कर्मों का भार तो ढोता रहा, परन्तु ब्रह्मा से मैंने कुछ मांगा नहीं। मैंने समझा कि मैं भार ढोने के ही लिए बनाया गया हूँ, इसीलिए शरीर मिला है। यद्यपि शरीर ब्रह्मा ही देते हैं, और भार ढोना भी वही निश्चित करते हैं, यह चाकरी ब्रह्मा की ही तो हुई। शरीर गाड़ी है, कर्म बोझ है, जीव बैल है जो ढोता है। ईश्वर गाड़ीवान – कोचवान है। शरीर को जो भोजन आदि मिलता है, वह तो गाड़ी के लिए रंग-रोगन कील-काँटा है, जीव को भी तो कुछ चारा चाहिये? वह है केवल

सुख और विश्राम की आशा। मैंने कभी न सुख माँगा, न विश्राम। मुझे यह ध्यान ही नहीं था कि कभी इस कार्य क्रम में विश्राम या सुख भी मिलता है। परन्तु ब्रह्मा बहुत ही न्याय परायणता से काम लेता है, यह मुझे आज ज्ञात हुआ। अमित काल से कर्मों का भार ढोकर जो मैंने ब्रह्मा की मज़दूरी की, उसके प्रत्यय में ब्रह्मा ने बिना माँगे ही बहुत काफी इकट्ठा ही दे दिया। यह ब्रह्मा की नेक नीयती और उदारता है। मैं उनका कृतज्ञ हूँ (केवट कितनी चतुराई से श्रीराम के पाँव की ली हुई चरण-रज के अहसान को अपने तक छूने नहीं देता और उपालम्भ भी सुन्दर है)। भगवान ने कहा कि यदि तुझे मज़दूरी "भलि भूरि" ब्रह्मा ने दी है, तो यह मुद्रिका मुझ से ले ले? केवट कहता है कि विधि भलि दी है, आप यह भलि नहीं दे रहे हैं? एक तो आप ब्रह्म हैं, आप किसी को कुछ दें या लें, तो साधारण जीव कोटि में ही आप भी आ जाएँगे? और यदि जीव कोटि में आप आ गए, तो मैं जीव होकर जीव से क्यों लेने लगा? दूसरी बात यह है कि ब्रह्मा ने तो इतनी "भलि मजूरी" दी है कि पेन्शन हो गई। अब न कुछ काम करने की आवश्यकता है, न निर्वाह के लिए भीख माँगने की। और आप तो फिर वही दे रहे हैं कि संसार के चक्र में चक्कर लगाता ही रहूँ। विभूति तो यही करती है, और कर ही क्या सकती है? न शान्ति दे सकती है, न विश्राम। आप भी इसकी आफ़तों से ऊब गए हैं, तभी तो मुझे दे रहे हैं। इसलिए कृपा कीजिए, मुझे जो विधि ने दी है वही "भलि भूरी" है। आपसे न मुझे कुछ लेना है, और न आप मुझे कुछ दे सकते हैं? यह उपालम्भ इसलिए है कि मोक्षादि तो मिल ही गया है, परन्तु यह स्वयम् नहीं मिल सके हैं। अतः यदि यह कहूँगा कि ब्रह्मा ने मुझे बहुत कुछ दिया है, आप मुझे कुछ नहीं दे सके, तो आप यह कहेंगे कि भाई मैं तो ब्रह्मादि जनक जग स्वामी हूँ। यदि मैं स्वयम् ही तुझे मिल जाऊँ, तब तो ब्रह्मा के दिये हुए दान से बढ़ जाएगा मेरा दान? केवट कहता है कि नाथ! विधि जो कुछ देता है, वही आप भी देते हैं। जो विधि नहीं देता, वह आप भी नहीं दे पाते। विधि ने रावण को वरदान दे दिया, तो आप भी उसे दर्शन देने पधारे। न उसे विधि देते, न आप आते। विधि ने आपको राज्य नहीं दिया, वनवास दिया। आप वन

को पधारे, राज्य पर नहीं बैठे। विधि ने आपको मेरे घाट भेजकर चरण रज दिलवाई, नहीं तो भला आप सिंहासनारूढ़ श्रीराम पैर धुलाने केवट के घर-घाट पर खड़े होते? यह सब विधि का ही तो बनाया हुआ है। कहते होंगे लोग कि विधि ने सब खेल बिगाड़ दिया। लेकिन मैं तो यह कहूँगा कि "विधि करतब पर कछु न बसाई", यह सब बनी बनाई सृष्टि ही बिगड़ जाय। इसलिए अच्छा हुआ जो "हानि, लाभ, जीवन, मरण, यश, अपयश, विधि (ने) हाथ" में रक्खा।

बात यह है – श्री राम वनवास पर, सभी लोग विधाता को भली बुरी सुना रहे थे –

मिलेहि माझ बिधि बात बेगारी।
जहँ तहँ देहिं कैकइहि गारी॥

का सुनाइ बिधि काह सुनावा।
का देखाइ चह काह दिखावा॥

एक बिधातहि दूषन देहीं।
सुधा देखाइ दीन्ह बिषु जेहीं॥

लिखत सुधाकर लिखिगा राहू।
बिधिगति बाम सदा सब काहू॥

फूलत फलत भयउ बिधि बामा।
जानि न जाइ काह परिनामा॥

कहहिं परसपर पुर नर नारी।
भलि बनाइ बिधि बात बिगारी॥

बिधि कैकई किरातिनि कीन्ही।
जेहिं दव दुसह दसहुँ दिसि दीन्ही॥

रामचंदु पति सो बैदेही।
सोवत महि बिधि बाम न केही॥

... आदि आदि

केवट ने सोचा कि जो वियोग सहता है, वह तो गालियाँ देता ही है। परन्तु जो संयोग से सुखी होता है, उसे तो चाहिये जय-जयकार करे। और जब तक एक को वियोग होगा नहीं, तब तक दूसरे को संयोग का सुख मिलेगा नहीं। तो फिर विधि का क्या दोष? उसने क्या अयोध्या वालों को ही जीवन भर के सुख का पट्टा लिख दिया है? आखिर हम लोग क्या करते? क्या हम लोग ब्रह्मा की सृष्टि में ही नहीं हैं? अयोध्या से श्रीराम चले आए, वे लोग विधि को कुछ भी कहें, परन्तु मुझे तो विधि की कृपा ही से यह मिले हैं। भला मैं विधि का पक्षपात क्यों न करूंगा। और विधि ने जिन्हें जो कुछ दिया हो, उसे छोड़कर वह कुछ पाने की अभिलाषा भले ही करते रहें, परन्तु मैं तो जो विधि ने दिया है उस पर बहुत सन्तुष्ट हूँ। विधि के दिये हुए से अतिरिक्त, यदि भगवान भी कुछ देना चाहते हैं तो भ्रम ही है। मिलना तो कुछ है ही नहीं। अतः "आजु दीन्हि बिधि बनि भलि भूरी।"

अब कछु नाथ न चाहिअ मोरे

अब कछु नाथ न चाहिअ मोरे।
दीन दयाल अनुग्रह तोरे॥

किं न प्राप्तं मया स्वामिनद्य श्रीपाद् दर्शनात्।
नापरा हृदये वाञ्छा विहायैकां कृपां तव॥

अर्थात् हे स्वामिन्! आपके श्रीचरण दर्शन से मुझे आज क्या नहीं मिल गया? अब एक आपकी कृपा को छोड़कर, हृदय में और कोई वाञ्छा नहीं रह गई है।

अब कछु नाथ न चाहिअ मोरे।
दीन दयाल अनुग्रह तोरे॥

भावार्थ – १

उस पार तक तो बहुत इच्छायें थीं, सोच रहा था कि तुमसे अनेकों जन्म तक लोग बहुत कुछ माँगने की प्रार्थनाएँ किया करते हैं और तुम दिया करते हो, तो आज मुझे भी अचानक यह अवसर हाथ लग गया है कि नौका पर चढ़ाने से पहले बहुत कुछ आपसे माँग लूँगा। इसीलिए सबसे मामूली माँग मैंने शुरू की चरण-रज से, और आपने भी इतनी कठिनता – कृपणता का व्यवहार सूचित किया कि मुझे उस चरण रज के लिए प्राण त्यागने तक की बारी आ गई। पता नहीं आपसे कैसे लोग माँगते होंगे और आप कैसे देते होंगे। अन्ततोगत्वा आपको मैंने प्रसन्न ही कर लिया और आपने प्रसन्नता से चरण रज दे दी। अब यह जो मुद्रिका आप दे रहे हैं वह प्रसन्नता से नहीं, संकोच से दे रहे हैं। तो भगवन्! प्रसन्नता से प्राप्त किया हुआ एक रज-कण भी सुमेरु से अधिक है, और संकोच से दिया हुआ सुमेरु भी एक रज-कण से तुच्छ है। इसलिए प्रसन्नता से मैं चरण रज प्राप्त कर चुका हूँ, "अब कछु नाथ न चाहिअ मोरे।"

भावार्थ – २

"न चाहिअ" जिस वस्तु की आवश्यकता होती है वह चाहे मिट्टी ही क्यों न हो, बहुत बड़ा मूल्य रखती है। और अनावश्यक वस्तु चाहे जवाहरात ही क्यों न हो, किसी अर्थ में नहीं आती। चरण रज की मुझे चाहना थी, वह आप दे नहीं रहे थे। वह आपके काम की वस्तु नहीं थी, परन्तु मेरे लिये सर्वस्व थी। यह मुद्रिका आपके काम की चीज है, मेरे लिए नगण्य है। आपसे चरण रज मैंने ली और चरणोदक के साथ पी गया। कितना सुन्दर स्थान मेरा हृदय था, उसके रखने के लिए। यह महाराजाधिराज की मुद्रिका है, इसे घर में रक्खूँ तो चोरी और डाके का डर। स्त्री को पहना दूँ, तो जाति की सभी स्त्रियों के कोसने का डर। और

अपने हाथ में पहन लूँ, तो भला महारानी के कर कमलों में सुशोभित होने वाली मुद्रिका इस पतवार खेने वाले केवट के हाथ में क्या शोभा पायेगी। फिर भी तो देखिये – मुद्रिका तो असंख्य द्रव्य की सम्पत्ति, और पहनने वाले काले-कलूटे अछूत के शरीर पर चार अंगुल साबुत लँगोटी भी नहीं। वाह! क्या अच्छा बानक बना रहे हैं, यह अँगूठी मुझे देकर। और सबसे बड़े गज़ब की बात तो यह होगी कि आपको है वनवास, और आपको वनवास देने वाली महारानी कैकयी का है इस समय राज्य, और यह मुद्रिका "तापस वेष विसेष उदासी" के कारण आपकी नहीं है, राज्य की है। यदि कल कहीं महारानी कैकयी को पता लग गया कि कौशल खण्ड राज्य की एक अमूल्य मुद्रिका केवट को दे दी गयी है, तो महाराज! आप तो वन सिधार रहे हैं, और मुझे तो सपरिवार कारागार में ही पहुँचना पड़ेगा। इसलिये "अब कछु नाथ न चाहिअ मोरे।"

भावार्थ – ३

आप तो यह मुद्रिका कह रहे हैं, "कछु न चाहिअ मोरे" मुझे तो अब कुछ भी नहीं चाहिए। अर्थात् आपकी चरण रज जो मिल चुकी है, उसकी समकक्षता में जिस वस्तु का मूल्यांकन करता हूँ वही वस्तु न्यून समझ पड़ती है। इसलिए मुद्रिका तो क्या "सालोक्यसार्ष्टि सामीप्य-सारूप्यैकत्वमप्युत। दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः॥" के अनुसार भुक्ति-मुक्ति कोई भी पदार्थ "न चाहिअ मोरे।"

भावार्थ – ४

यहाँ पहले नाथ कह रहा है और बाद को दीनदयाल कह रहा है। एक ही चौपाई में, एक ही प्रकार के भावों से पूर्ण दो शब्दों का आ जाना केवल शब्द बाहुल्य प्रतीत होता है। इसलिये यदि ऐसा अन्वय किया जाय कि हे दीनदयाल नाथ! तोरे अनुग्रह मोरे अब कछु न चाहिअ, अर्थात् हे दीनदयाल स्वामी! तुम्हारे अनुग्रह से अब मुझे कुछ नहीं चाहिए। इस अन्वय से एक सुन्दर आशय यह भी झलकता है कि भगवान् यदि कहें कि तुझमें इस प्रकार का अयाचकत्व, अकिञ्चनत्व उत्पन्न कैसे हुआ, तो

उसका उत्तर केवट दे रहा है कि हे दीनदयाल नाथ! यह मेरी सद्बुद्धि का प्रभाव नहीं है अपितु आपके अनुग्रह का ही यह शुभ लक्षण है कि जिस पर आपका अनुग्रह हो जाय वह फिर अयाचक और अकिञ्चन हो जाता है। तो "अनुग्रह तोरे अब कछु नाथ न चाहिअ मोरे।"

भावार्थ – ५

भगवन्! यदि आपका यह विचार हो कि पैर धोकर गंगा पार कर देने के ऋण से मुझे ऋणी रख रहा है – इस अभिमान से नहीं लेता, तो हे नाथ! प्रार्थना यह है कि आप दीनदयाल हैं, और मैं दीन हूँ। आपका मेरा ऋण-बन्ध नहीं हो सकता है क्योंकि "प्रीति बिरोध समान सन करिअ नीति असि आहि", कहाँ आप त्रिलोकी नाथ और कहाँ मैं नीच केवट। भला मैं आपके ऊपर क्या अहसान कर सकूँगा, और आप मेरे ऋण-बन्ध में क्या बधेंगे। हे दीन पर दया करने वाले देव! जिस अनुग्रह से आपने मेरे घाट तक आकर चरण धुलाये हैं, मेरी नाव पर बैठ कर मेरी सेवा ले सके हैं, वही दीन पर, दयाल तोरे अनुग्रह को छोड़कर – हे नाथ! मोरे अब कछु न चाहिअ।

फिरती बार मोहि जो देबा

फिरती बार मोहि जो देबा।
सो प्रसादु मैं सिर धरि लेबा॥

भावार्थ – १

उस पार से आप भी इस पार आ गये और मैं भी उस पार से दूसरी पार चला गया – "आप सहित परिवार पितर पार करि।" इसलिये अब लेन देन समाप्त कर दीजिये। यदि आप इस पार से लौटकर फिर उस पार जायें (पुनः अवतार धारण करें) और मैं भी जिस पार पहुँच गया हूँ उस पार से पुनः लौटूँ (जन्म-मरण का चक्र पुनः प्राप्त करूँ), तो जो

कुछ आप इस शरीर के भोगने योग्य कर्मानुबन्ध देंगे, वह मैं फिर शीश पर धारण कर लूँगा।

भावार्थ – २

"सो प्रसाद" कहने का तात्पर्य यह है कि संसार में दो प्रकार के जीव जन्म लेते हैं। एक तो वह जिन्हें अपने कर्मों को भोगने के लिये जन्म धारण करना पड़ता है, और दूसरे वह हैं कि जो केवल आपकी आज्ञा से, आपकी प्रसन्नता के लिये, आपके सृष्टि रंग-मंच को सफल बनाने के लिये जन्म लिया करते हैं। तो हे प्रभु! आपके चरणोदक को पी लेने के बाद कर्मों के द्वारा आवागमन तो समाप्त हो गया, परन्तु "फिरती बार मोहि जो देबा ..."

केवट यह समझता है कि भगवान् जाने किस समय अपनी लीला के द्वारा मुझे जन्म देकर मेरे इस ऋण से उऋण होना चाहेंगे। अतः कहता है कि यदि आप फिरती बार अर्थात् किसी दूसरे अवतार में, मुझे फिर जन्म देना चाहें और मेरे इस चरण प्रक्षालन का प्रत्युपकार करना चाहें, तो मुझे उसमें कुछ आपत्ति न होगी। मैं आपके उस आज्ञा रूपी प्रसाद को शीश पर धारण करके पालन करूँगा। परन्तु वह आज्ञा मेरा कर्म नहीं होगी, प्रसन्नता से दिया हुआ आपका प्रसाद होगा।

नोट – सन्त महात्माओं की पुराणान्तर्गत किंवदन्ति है कि श्री राघवेन्द्र ने श्री रामावतार में जब राज्य प्राप्त किया तब श्रीलक्ष्मण, श्रीअंगद और श्रीकेवट से कहा कि इस अवतार में आप लोगों का जो उपकार मुझे प्राप्त हो चुका है, उसका बदला मैं आप लोगों को इसी अवतार में चुका देना चाहता हूँ। सब ने पूछा कि किस प्रकार? तो श्रीराघव ने उत्तर दिया, श्रीलक्ष्मणजी ने वन में हमारी बड़ी सेवा की है, इसलिये अब मैं चाहता हूँ कि इस उपवन में कोमल-कोमल पुष्प और पत्रों की शय्या बिछा दूँ और श्रीलक्ष्मणजी उस पर लेट जायें, तथा मैं उनकी चरण सेवा कर दूँ, तो इस भार से मुक्त हो जाऊँ। श्रीलक्ष्मणजी ने चरण पकड़ लिये और कहा कि प्रभो! यह तो आप महा-अनर्थ और महा-अमर्यादित बात सोच रहे हैं। भला यह कभी सम्भव हो सकता है? भगवान् ने अंगदजी से कहा

कि मैंने तुम्हारे पिता को वृक्ष की ओट से मारा है, तुम भी धनुष वाण ले लो और किसी वृक्ष की ओट से मुझे आहत कर दो, तो तुम्हारे ऋण से मुक्त हो जाऊँ। अंगद ने चरण पकड़ लिये और कहा कि प्रभो! मुझे अनाथ समझ कर मेरा उपहास कर रहे हैं क्या? उसी प्रकार राघवेन्द्र ने केवट से कहा कि मेरी इच्छा है तुम सिंहासन पर विराजमान हो जाओ और मैं तुम्हारे चरणों को रत्न जटित स्वर्ण थाल में धोलूँ, तो तुम्हारे ऋण से भी उऋण हो जाऊँ। केवट ने कहा कि भगवन्! क्या मर्यादा पुरुषोत्तमत्व का यह अवतार सर्वथा व्यर्थ कर देना चाहते हैं? तो भगवान ने कहा कि अच्छा यदि आप लोग नहीं मानते हैं, तो इन ऋण बन्धों के लिये मुझे एक अवतार पुनः धारण करना पड़ेगा, अस्तु।

जब भगवान् को श्रीकृष्णावतार धारण करने का विचार लेना पड़ा, तो शेषजी को बुलाकर उन्होंने आज्ञा दी कि आप ब्रज भूमि में पहले चलकर मेरे इस अवतार के सहायक हों। शेषजी ने शीघ्रता में भगवान् की इस आज्ञा का विशेष कुछ अर्थ न लगाते हुए, ब्रज में बलरामजी का स्वरूप धारण कर लिया और बाद में भगवान् श्रीकृष्ण रूप से अवतरित हुए। जब गोचारण का समय आया और श्रीकृष्ण बलदाऊजी के साथ गाय चराने गये, तो मध्याह्न में आपने बलदाऊजी से कहा कि भैया, मैं पुष्प और पत्रों की शय्या लगा देता हूँ और आप उस पर थोड़ा विश्राम कर लो, और मैं तुम्हारी चरण-सेवा कर दूँ। अब बलरामजी की समझ में आया कि अपने से पहले इन्होंने यहाँ मुझे क्यों भेजा है? बलरामजी बोले कि भैया, मुझे चरण-सेवा की आवश्यकता नहीं है। श्रीकृष्ण ने कहा कि आपको आवश्यकता हो या न हो, परन्तु मेरा कर्तव्य तो है। देखिये रामावतार में छोटे भाई लक्ष्मण बड़े भाई राम के क्या पैर नहीं दबाते थे? बलदाऊजी निरुत्तर हो गये और श्रीकृष्ण जी ने चरण-सेवा करके अपना यह ऋण उतार दिया। इसी प्रकार अंगद को श्रीकृष्णावतार में ब्याध रूप से आपने जन्म दिया और स्वलोक प्रस्थान के समय, उसके ही बाण का आघात अपने चरणों में लेकर उस ऋण से भी मुक्त हो गये। तदनुसार केवट को आपने सुदामा ब्राह्मण का जन्म दिया और अपने राज भवन में उनके चरणों का प्रक्षालन करके, इसी मुद्रिका की समस्त विभूतियाँ उसे

प्रदान कर दीं।

भावार्थ – ३

रामचन्द्रजी राज्य त्याग कर वन को जाते हैं, ऐसे समय उतराई लेना अयोग्य है। इसलिए "फिरती बार मोहि जो देवा।"

भावार्थ – ४

लौटती बार जो आप देंगे, वह लूँगा यह कह कर सिद्ध किया कि इस बार की उतराई उधार समझ कर इसे चुकाने के लिए फिर आप इसी घाट पर उतरेंगे, जिससे मुझे फिर चरण धोने और आपके दर्शन करने का अवसर मिलेगा।

भावार्थ – ५

(बैजनाथ जी) हे नाथ! "फिरती बार" जो वनते लौटि अयोध्याजी को आवत बार, जो कछु वस्तु आप देब सो प्रसाद मान शिर धरि लै लेहौं। काहे ते कि तब अयोध्याजी में अनेक भूषण जानकीजी धारण करेंगी तब लेना अयोग्य नहीं।

भावार्थ – ६

लेना न कुछ इस बार है न लौटती बार, परन्तु कह कर टाल देने का ढंग यही हो सकता है।

भावार्थ – ७

"सो प्रसाद" का भाव यह है कि मजूरी तो तब भी मुझे नहीं चाहिये, प्रसाद आपका चाहिये, सो जो प्रसाद (प्रसादस्तु प्रसन्नता) आप देंगे, वह आदर पूर्वक लूँगा। "मोहि जो देवा" अर्थात् यदि प्रभु कहें कि लौटती समय अँगूठी न रही तो क्या देंगे? उस पर कहता है कि जो कुछ आप देंगे वही आपका प्रसाद है और मैं वही ख़ुशी से लूँगा।

भावार्थ – ८

"फिरती बार मोहि जो देवा" – न लेने का कारण है कि –

१. शपथ कर चुका हूँ अथवा
२. ये वानप्रस्थ धर्म पालन कर रहे हैं, वन को जा रहे हैं इस समय लेना उचित नहीं है। अथवा
३. हमको परिवार और पितरों समेत आपने पार किया, हमने आपको गंगा पार किया, दोनों बराबर हो गये।

अब जब फिर आकर आप उतरेंगे, तब उतराई लूँगा क्योंकि मुझे तो पार उतरना नहीं है।

भगति बिमल बरु देइ

बहुत कीन्ह प्रभु लखन सियँ नहिं कछु केवटु लेइ।
बिदा कीन्ह करुनायतन भगति बिमल बरु देइ॥

उक्तवान् बहुधा रामो निषादो न गृहीतवान्।
पुण्य भक्तिवरं दत्वा प्रेषयामास तं गृहम्॥

भावार्थ – १

"बहुत कीन्ह प्रभु लखन सियँ" – यहाँ दिखाते हैं कि जिसमें ऐसा वैराग्य होता है कि मूर्तिमान् लक्ष्मी देने पर भी नहीं लेता, जो ऐसा निष्काम होता है, उस पर प्रभु, आचार्य (लक्ष्मण जी) और श्रीजी प्रसन्न होते हैं, और तभी प्रभु अपनी भक्ति देते हैं। राम, लक्ष्मण, जानकीजी भोग पदार्थ देते रहे, न लेने पर भक्ति मिली। यह विशिष्टाद्वैत मत हुआ। नाव खेने वाले को यहाँ विदा कर दिया, निषादराज अभी साथ हैं। प्रसाद में विमल भक्ति उसे मिल गई क्योंकि लौटती बार नाव पर नहीं उतरना है। "करुणायतन" विशेषण दिया क्योंकि जो विशुद्ध भक्ति नारद सनकादि को

भी दुर्लभ है, वह इसको कृपा करके दी।

भावार्थ – २

"बहुत कीन्ह सियँ" – मुद्रिका श्री जनकनन्दिनी से लेकर राघवेन्द्र ही केवट को दे रहे थे। श्री जनकनन्दिनी ने सोचा कि यह मुद्रिका मेरी है और मैंने केवट को देने के लिए कुछ भी नहीं कहा। प्रायः देखा यह जाता है कि पुरुष वर्ग यदि किसी की दैन्यावस्था पर चाहे न पसीजे, परन्तु स्त्रियों का हृदय कोमल एवं उदार होता है। चाहिए तो यह था कि इसके प्रणाम करने पर, मुद्रिका मैं स्वयं ही दे देती परन्तु मैंने श्री रघुनन्दन को संकोच प्राप्त होने के बाद मुद्रिका उतार कर, इसे देने के लिए दी। तो इसका यह तात्पर्य होता है कि मैं अपनी इच्छा से नहीं देना चाहती, परन्तु राघव के संकोचवश विवश होकर दे रही हूँ। कदाचित् इसीलिए केवट यह मुद्रिका नहीं ले रहा है। अतः "बहुत कीन्ह सिय" श्री जनकनन्दिनीजी ने भी अनेक प्रकार से समझाकर मुद्रिका ले लेने का आग्रह किया।

भावार्थ – ३

"बहुत कीन्ह लखन" – श्री लक्ष्मणजी ने सोचा कि मैं इसके अटपटे शब्दों पर क्रोधित होकर अपना धनुष-बाण सम्हालने लगा था और तब से अभी तक इससे कोई बात भी नहीं की, इसलिए केवट समझता होगा कि जरा सी चरणरज लेने पर तो यह प्राण लेने को तैयार थे और अब यदि महारानीजी की अँगूठी ले लूँगा, तो जाने क्या दुर्दशा हो जायगी। इस भय से कदाचित् नहीं ले रहा हो, तो "बहुत कीन्ह लखन"। लक्ष्मण जी ने भी अनेक प्रकार से समझाया कि तुझे यह अवश्य लेना चाहिये।

भावार्थ – ४

"बहुत कीन्ह प्रभु" – प्रभु के लिये तो पहले ही बहुत कुछ कह चुके हैं, अब यहाँ फिर यह कहना कि प्रभु ने बहुत यत्न किया, क्या आशय रखता है? बात यह है कि प्रभु जब प्रसन्न होकर चरण-रज देने

को उद्यत हुये, तो श्री जनकनन्दिनी और लक्ष्मण की तरफ देखकर हँसे, परन्तु श्री जनकनन्दिनी और लक्ष्मण ने न कुछ उत्तर ही दिया और न प्रसन्नता का ही उपक्रम किया, दोनों ही मौन रहे। मुद्रिका देने के समय भी श्री राघवेन्द्र को संकोच हुआ और श्री जनकनन्दिनी ने मुद्रिका उतारकर दे दी, परन्तु न किसी ने आग्रह किया और न कोई कुछ बोला ही। हो सकता है कि केवट इस भावना से न ले रहा हो कि महाराज! रज तो मैंने विवश करके ले ली थी, परन्तु पुरस्कार में दी जाने वाली वस्तु आपस में घर में समझौता करके ही दी जानी चाहिये। पारस्परिक असम्मति से दी हुई वस्तु पिता की भी हो, तो दुख का कारण होती है; जिस प्रकार कि आपको पिता का दिया हुआ राज्य। अतः जब श्री जनकनन्दिनीजी और लक्ष्मण जी भी एक मत होकर केवट को मुद्रिका ले लेने के लिये बहुत आग्रह करने लगे, तो प्रभु ने भी पुनः "बहुत कीन्ह" कि भाई अब तो हम सभी लोग एक मत होकर यह पुरस्कार तुम्हें दे रहे हैं, अब क्यों नहीं लेते। अतः "बहुत कीन्ह सिय लखन प्रभु।"

भावार्थ – ५

"नहिं कछु केवट लेइ" – केवट कुछ भी नहीं ले रहा है। देने के लिये तो केवल मुद्रिका ही थी और यहाँ गोस्वामीजी लेने में लिख रहे हैं कि "नहिं कछु केवट लेइ", लिखना चाहिये कि "किन्तु न केवट लेइ।" कुछ से तो यह ज्ञात होता है कि श्री जनकनन्दिनीजी, श्री लक्ष्मणजी और श्री राघवेन्द्र – तीनों ही मुद्रिका के अतिरिक्त भी कुछ वस्तुएँ दे रहे हैं, परन्तु केवट कुछ भी नहीं ले रहा है। श्री जनकनन्दिनीजी अष्टसिद्धि और नवनिधियों की देने वाली हैं। अतः मुद्रिका न लेते हुए देखकर, उन्होंने ऋद्धि-सिद्धि प्रदान करने के लिए प्रयत्न किया। श्री लक्ष्मणजी महाराज समस्त भूमण्डल के अधिनायक हैं, क्योंकि पृथ्वी शेषजी के फण पर "सर्षपवत् विभाति", सरसों के दाने की तरह सुशोभित होती है। अतः श्री लक्ष्मणजी भूमण्डल के किसी भी भू-भाग का राज्य लेने के लिए आग्रह करने लगे, और ब्रह्म श्री राम –अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष, ये चारों पदार्थों के दाता हैं, इनमें से ही कुछ ले लेने का आग्रह किया होगा। परन्तु

"नहिं कछु केवट लेइ", केवट इनमें से कुछ भी लेने के लिये तैयार नहीं हुआ। तब करुणायतन श्री राघवेन्द्रजी ने विमल भक्ति का वरदान देकर विदा किया।

भावार्थ – ६

प्रश्न यह होता है कि केवट में विमल भक्ति थी या नहीं? यदि विमल भक्ति थी, तो विमल भक्ति का वरदान कैसा दिया गया, और यदि विमल भक्ति नहीं थी, तो केवट की इस भक्ति से बढ़कर विमल भक्ति का और उदाहरण क्या हो सकता है। विमल भक्ति का यही तो लक्षण है कि "दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः।" भगवान् की सेवा के अतिरिक्त ऐहिकामुष्मिक कोई भी पदार्थ जो नहीं ग्रहण करते हैं, वही तो विमल भक्त हैं। तो फिर केवट की विमल भक्ति में सन्देह ही क्यों हो सकता है।

यहाँ यह प्रतीत होता है कि विमल भक्ति का उत्पन्न हो जाना, तो तीन प्रकार से सम्भव है – एक तो पूर्व संस्कार से (यह जन्मजात होती है), जैसे – प्रह्लाद, शुकदेव, काकभुशुण्डि आदि। दूसरी भगवद्भक्तों के संग से, जैसे – बाल्मीकि, नारद, घटजोनि आदि। तीसरी सांसारिक विषम परिस्थितियों वज्रादपि की कठोर ठोकरें खाने के बाद, समस्त व्यावहारिक जगत को प्रपञ्च और विश्वासघात का मूल कारण समझते हुए जीवनवृत्ति इधर से मुड़कर भगवान की ओर लग जाती है।

अस्तु, यहाँ केवट में दो प्रकार प्रत्यक्ष हैं। एक तो पूर्व किसी जन्म में महर्षिपुत्र होने के नाते जन्मजात है। दूसरी भगवद्भक्त श्री लक्ष्मण, निषादराज एवं साक्षात् भगवान के ही संग से उत्पन्न हुई है। इसलिए दोनों प्रकार की विमल भक्ति केवट में है, परन्तु विमल भक्ति प्राप्त होने के पश्चात् उसका सर्वदा एकरस स्थिर रहना और मोह के व्याघातों से विचलित न होना, केवल भगवान की विशेष एवं एकान्तिक कृपा पर ही तो निर्भर है। नहीं तो –

नारद भव बिरंचि सनकादी।

जे मुनि नायक आतमवादी ॥
मोह न अन्ध कीन्ह केहि केही ।

जब उपरोक्त भक्तों की भी यह दशा है, तो साधारण जनों की कथा ही क्या। इसलिए भगवान् श्री राघवेन्द्र ने (यद्यपि केवट के हृदय में विमल भक्ति है, परन्तु) भविष्य में काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, अहङ्कारादिक इस विमलत्व में किसी प्रकार का प्रवेश न कर सकें, यह वरदान देकर बिदा किया।

* * *

केवट प्रसंग का सिद्धान्तत्रय परक विचार

यदि हम कर्मवाद की दृष्टि से देखें, तो प्रकृति गंगा के संसार-घाट पर, मनुष्य रूपी केवट शरीर-नौका को लिये अनेक साधन रूपी यात्राओं को नित्य-लोक और परलोक – दोनों किनारों पर पार लगाता रहता है। और साधन रूपी यात्रियों की सेवा के फलस्वरूप श्रीराम किसी दिन मनुष्य-केवट के संसार-घाट पर आ जाते हैं। उस समय केवट श्री राम के सन्तोष और दैन्य – दोनों चरणों का शान्ति जल रूपी चरणोदक लेने के लिये अकुला उठता है। वहाँ परीक्षाकाल रूपी श्री लक्ष्मणजी से उसे प्राणभय की भी आशंका होती है, परन्तु अपनी भावना में दृढ़ होने के कारण वह सन्तोष-चरणों को धोकर शान्ति-जल चरणोदक का इस प्रकार प्रसाद ले लेता है कि स्वयं भगवान् के भी आग्रह करने पर समस्त विश्व की ऐश्वर्य विभूति मुद्रिका की भी उसे आवश्यकता नहीं रहती।

उपासना सिद्धान्त के अनुसार भगवान का भक्त है केवट, भगवान् हैं श्री राम, भक्ति हैं श्री सीता और आचार्य हैं श्री लक्ष्मण एवं भगवान् की सुस्मृति है नौका। कोई भी भक्त दैन्य घाट पर, सुस्मृति की नौका लिये हुए भगवान के गुण-कर्म रूप यात्रियों को लिये हुए सेवा और सत्संग के दोनों किनारों पर, अनुराग गंगा में यातायात करता रहता है, तो किसी दिन भगवान् श्री राम और भक्ति श्री जनकनन्दिनी तथा आचार्य श्री लक्ष्मण उसकी सुस्मृति नौका पर विराजमान होने के लिए उपस्थित हो जाते हैं। तभी वह भक्त स्नेह-रसामृत चरणोदक ले लेता है और अपने समस्त परिवार-कुल पूर्वजों का उद्धार करके जीवन मुक्त हो जाता है।

ज्ञान सिद्धान्त के अनुसार योगाभ्यासी जीव केवट, अभ्यास-घाट पर धारणा नदी के ध्यान और सताधि किनारों पर शुद्धावृत्ति नौका के द्वारा

कर्म, विकर्म, अकर्म रूपी यात्रियों को इतस्ततः पार लगाता रहता है। तो एक दिन शुद्ध अहंकार (अहं ब्रह्मास्मि) स्वरूप श्री लक्ष्मण और पराविद्या स्वरूपा श्री जनकनन्दिनी तथा परब्रह्म श्री राम उसको उपलब्ध हो जाते हैं और वह (यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्यमनसा सह) शुद्ध तत्वपादोदक रस में विलीन होकर (यद् गत्वा न निवर्तन्ते) समाधि सुख प्राप्त हो जाता है। यह हुआ केवट प्रसंग का मानस में सिद्धान्तत्रय प्रतिपादन।

* * *

दो पद

आज सुरसरि के किनारे।
पार जाने को खड़े हैं,
राम केवट के सहारे॥

नाव माँगी जा रही है।
चक्रवर्ती वंश की,
मर्याद त्यागी जा रही है॥

कह रहा है दूर से,
मल्लाह कर पतवार धारे।
आज सुरसरि के किनारे॥

यह चरण धोने पड़ेंगे।
यदि न धोए! हाथ-
धन्धे से मुझे धोने पड़ेंगे॥

दोष मेरा है नहीं,
हैं चरण ही ऐसे तुम्हारे।
आज सुरसरि के किनारे॥

कुछ न उतराई चहूँगा।
यदि प्रतिज्ञा एक कर लो,
पार पल भर में करूँगा॥

तुम तरोगे तब कि, जब-
तारो प्रथम पूर्वज हमारे।
आज सुरसरि के किनारे॥

हँस पड़े श्री राम बोले –
कर रहा उपकृत मुझे,पर गर्व में फूला नहीं तू।
और पारिश्रमिक अनुसन्धान भी भूला नहीं तू॥
यह परम चातुर्य्य है,
या हैं हृदय के भाव भोले।
हँस पड़े श्री राम बोले॥
चरण का जल चाहिए, तो निकट सुरसरि बह रही है।
तीर-वासी के वचन वह, तीर से ही सह रही है॥
क्यूँ न उसका पान कर,
संसार-सागर पार होले।
हँस पड़े श्री राम बोले॥
मैं न गंगा ब्रह्म-कर-मंडल-प्रसूता चाहता हूँ।
हूँ अछूती जाति, चरणोदक अछूता चाहता हूँ॥
क्या घटेगा आपका, यदि-
दास भी दो "बिन्दु" धोले।
हँस पड़े श्री राम बोले॥

* * *